प्राक्कथन

राज्यश्री और हर्षवर्धन से सम्बन्ध रखने वाली घटनाओं का आधार हर्षवर्धन के राजकवि बाण का बनाया हुआ हर्षचरित और चीनी यात्री सुएनच्वांग का वर्णन है। हर्षचरित का वर्णन अपूर्ण है; अनुमान होता है कि ग्रंथ की पूरी प्रति उपलब्ध नहीं या वह उस कवि की रचना कादम्बरी की भाँति अधूरी ही रही। कुछ विशेष घटनाओं का वर्णन चीनी यात्री ने किया है। बौद्धधर्म का विशेष पक्षपाती होने के कारण वह उन घटनाओं को नहीं छोड़ सका जो बौद्धधर्म के अनुकूल हुई थीं।

उस समय गुप्तों का प्राधान्य नष्ट हो चुका था। छठीं शताब्दी में मालव के यशोधर्मदेव ने जब हूण मिहिरकुल को परास्त किया तो साम्राज्यशक्ति मगध से हट कर मालव की शरण में चली गई। परन्तु यशोधर्मदेव की वंश-परम्परा में वह स्थिर न रह सकी। इधर जो हूण भारत की सीमा के भीतर घुस आये थे वे कभी न कभी उपद्रव मचा ही देते, इस कारण स्थानीय राज्यों को उनसे बराबर छोटा-मोटा युद्ध करना ही पड़ता। संभवतः भारत के उत्तर पश्चिमी प्रांत से उनका आतंक निर्मूल नहीं हुआ था, यद्यपि वे अब भारत साम्राज्य के विजेता न रहे थे।

वह सातवीं शताब्दी का प्रारम्भ था, जब स्थाण्वीश्वर के राजवंश ने प्रबलता प्राप्त की; शक्ति-संचय करके वे हूणों से बढ़े। कान्यकुब्ज में मौखरियों का प्राधान्य था और मालव में

महाराजाधिराज बन गया। हर्षवर्धन ने राजनीति को संयम से चलाया। कामरूप, काश्मीर और वलभी के प्रान्तराज्य उसके अनुगत हो गये। दिवाकरमित्र नामक एक साधु ने राज्यश्री के प्राणों की रक्षा की।

कहा जाता है कि हर्षवर्धन ने राज्यश्री के साथ कान्यकुब्ज का संयुक्त शासन किया और इसीलिये बहुत दिनों तक वह केवल राजपुत्र उपाधि धारण किए था। किन्तु बाँसखेड़ा के शिलालेख में वह स्वयं लिखता है—

'स्वहस्तोममहाराजाधिराजश्रीहर्षस्य।'

उसका राज्यकाल ६०५ ई० से आरम्भ होकर ६४७ ई० तक चलता है।

चीनी यात्री ने तो हर्ष के काषाय लेने का भी उल्लेख किया है। परन्तु सम्भवतः यह भारत की वही प्राचीन प्रथा थी, जिसका वर्णन कालिदास ने विश्वजित् याग के बाद सर्वस्वदान के रूप में किया है—रघु भी सब जीत कर ऐसा ही दान करके अकिञ्चन हो गये थे; जब कौत्स गुरु-दक्षिणा के लिये गये थे। हर्षवर्धन का बौद्धधर्म की ओर अधिक झुकाव होने का कारण उनकी भगिनी राज्यश्री का एक बौद्ध दिवाकरमित्र द्वारा बचाया जाना भी हो सकता है। संभवतः धर्म में वे समन्वयवादी थे; सूर्य, शिव, और बुद्ध तीनों देवताओं की प्रतिमा आदरणीय थी। प्रधानतः हर्षवर्धन के हृदय में धर्म का सात्विक रूप व्याप्त था, यद्यपि चीनी यात्री ने उसके महायान-प्रेमी होने का अधिक वर्णन किया है।

पुलकेशिन चालुक्य ने उसकी विजय को दक्षिण में रोक दिया वह भी उत्तरापथ के साम्राज्य से संतुष्ट था। राज्यश्री एक आदर्श राजकुमारी थी। उसने अपना वैधव्य सात्विकता से विताया। अनेक अवसरों पर वह हर्ष के लौह-हृदय को कोमल बनाने में कृतकार्य हुई।

यद्यपि इस धर्म-समन्वय के कारण; चीनी यात्री सुएनच्वांग और सी-यू-की के अनुसार, स्वयं हर्षवर्धन के प्राण लेने तक की चेष्टा भी की गई थी, परन्तु वह राज्यश्री के कोमल स्वभाव की प्रेरणा से कठोरता से बचता ही रहा। कान्यकुब्ज का और प्रयाग का दान-महोत्सव वर्णन करते हुए सुएनच्वांग अघाता नहीं। यह सब प्रेरणा राज्यश्री की थी।

इस दृश्यकाव्य का पूर्वरूप 'इन्दु' में पहले निकला फिर 'चित्राधार' के संग्रह में वह पुनर्मुद्रित हुआ। एक प्रकार से मैं इसे अपना प्रथम ऐतिहासिक रूपक समझता हूँ। उस समय यह अपूर्ण ही-सा था, इसका वर्तमान रूप कुछ परिवर्तित और परिवर्धित है।

विकटघोष और सुरमा, यद्यपि ऐतिहासिक पात्र नहीं हैं, परन्तु चीनी यात्री का एक डाकू से पकड़े जाने का उल्लेख मिलता है। हर्षवर्धन के जीवन का अंतिम दृश्य इसमें नहीं लिया गया है, क्योंकि इस रूपक का उद्देश्य है राज्यश्री का चरित्र-चित्रण।

—लेखक

पुरुष-पात्र

हर्षवर्धन—	स्थाण्वीश्वर का राजकुमार, फिर भारत का सम्राट्
दिवाकरमित्र—	एक महात्मा
नरेन्द्रगुप्त—	गौड़ का राजा
राज्यवर्धन—	स्थाण्वीश्वर का बड़ा राजकुमार
भण्डि—	सेनापति
नरदत्त—	मालव का सैनिक
सुएनच्वांग—	चीनी यात्री
पुलकेशिन—	चालुक्य नरेश
धर्मसिद्धि, शीलसिद्धि—	दो भिक्षु
शांतिदेव	भिक्षु, फिर दस्यु
देवगुप्त—	मालवराज
मधुकर—	उसका सहचर
ग्रहवर्मा—	कन्नौज का राजा

दौवारिक, सहचर, प्रहरी, दस्यु, सैनिक, प्रतिहारी, दूत, मंत्री, नागरिक इत्यादि

स्त्री-पात्र

राज्यश्री—	कन्नौजराज ग्रहवर्मा की रानी
अमला, कमला, विमला—	राज्यश्री की सखियाँ
सुरमा—	एक मालिन

राज्यश्री

प्रथम अंक

१

नदी-तट का उपवन

शांतिदेव—सुरमा, अभी विलम्ब है।

सुरमा—क्या विलम्ब है प्रियतम, देखो मैं मल्लिका का क्षुप सींचती हूँ; यह भी मुझे वंचित नहीं रखता—छाया, सुगंध और फूलों से जीविका देता है, किन्तु तुम! कितने निष्ठुर हो! तुम्हारी आँखों में दया का संकेत भी नहीं!

शांति०—मैं भिक्षु हूँ सुरमा! संसार ने मुझे एक ओर ढकेल दिया है—मैं अभी उसी ढालुवे से ढुलक रहा हूँ। रुकने का, सोचने का, अवसर नहीं। मुझे तुम्हारी बात, तुम्हारा स्नेह, एक विडम्बना—एक धोखा-सा जान पड़ता है।

सुरमा—विश्वास करो! मैं आजीवन किसी राजा की विलास-मालिका बनाती रहूँ—ऐसा मेरा अदृष्ट कहे तो भी मैं मान लेने में असमर्थ हूँ। मेरी प्राणों की भूख, आँखों की प्यास, तुम न मिटाओगे?

शांति०—यह तो हुई तुम्हारी बात, परन्तु मैं क्या चाहता हूँ—यह मैं अभी स्वयं नहीं समझ सका हूँ।

मस्तिष्क जैसे हँसने लगा और ग्लानि का तो कहीं पता नहीं। सुरमा, तुम्हारा स्थान कितना सुरम्य है!—(देख कर)—अरे तुम्हारा बाल-व्यजन भी बन गया; कितना सुन्दर है! उन कोमल हाथों को चूम लेने का मन करता है—जिन्होंने इसे बनाया!

सुरमा—(हँसती हुई)—आप तो बड़े धृष्ट हैं..... तो अब मैं जाती हूँ।

अपनी पुष्प-रचना लेकर इठलाती हुई जाती है

२

कान्यकुब्ज के राज-मंदिर का एक प्रकोष्ठ

ग्रहवर्मा—(राज्यश्री के साथ चिन्तित भाव से प्रवेश करते हुए)—प्रिये, मेरा चित्त आज न-जाने क्यों उदासीन हो रहा है; चेष्टा करके भी मैं उसे प्रसन्न नहीं कर पाता हूँ। अनेक भावनायें हृदय में उठ रही हैं जो निर्बल होने पर भी उसे उद्विग्न कर रही हैं।

राज्य०—नाथ, आप-जैसे धीर पुरुषों को—जिनका हृदय हिमालय के समान अचल और शांत है—क्या मानसिक व्याधियाँ हिला या गला सकती हैं? कभी नहीं!

ग्रह०—इस विश्वव्यापी वैभव के आनन्द में यह मेरा हृदय सशंक होकर मुझे आज दुर्बल बना रहा है।

राज्य०—शंका किस बात की, प्रियतम?

ग्रह०—पुण्यभूमि महोदय का सिंहासन; सरल और अनुरक्त प्रजा; सुजला-शस्य-श्यामला उर्वरा भूमि, स्वास्थ्य का वातावरण और सबसे सुन्दर उत्तरापथ का कुसुम—यह पवित्र मुख—मेरा है, अपना है; फिर भी...........

राज्य०—(संकुचित होती हुई)—तब भी, क्या ?

ग्रह०—तब भी यही कि यह सुदूर-व्यापी नील आकाश कितने कुतूहलों का, परिवर्तनों का क्रीड़ा-क्षेत्र है। यह आवरण है भी कितना काला—कितना......

राज्य०—बस नाथ, बस ! क्यों हृदय को दुर्बल बना कर अनुशोचना बढ़ा रहे हो !

ग्रह०—मनुष्य-हृदय स्वभाव-दुर्बल है। प्रवृत्तियाँ बड़ी-बड़ी राज्यशक्तियों के सदृश इसे घेरे रहती हैं। अवसर मिला कि इस छोटे-से हृदय-राज्य को आत्मसात् कर लेने को प्रस्तुत हो जाती हैं।

राज्य०—व्यर्थ चिन्ता ! हृदय को प्रसन्न कीजिये। सम्भव है कि संगीत में मन लग जाय; बुलाऊँ गानेवालियों को ?

ग्रह०—नहीं प्रिये, क्षत्रियों का विनोद तो मृगया है। इच्छा होती है कि सीमाप्रांत के जंगल में कुछ दिनों तक मन बहलाऊँ।

राज्य०—जैसी इच्छा, मुझे भी आज भिक्षुओं को दान देना है।

ग्रह०—अच्छी बात है।

प्रस्थान

२

सुरमा का उपवन

देवगुप्त—मालव-नरेश, मैं छद्मवेश में अनेक देश देखता फिरा, किन्तु उस दिन मदनोत्सव में जो आनन्द-दायक दृश्य यहाँ देखने में आया, वह क्या कभी भूलने को है ! राज्यश्री ! आह कितना आकर्षक—कितना सौन्दर्यमय वह रूप है !

मधुकर का प्रवेश

मधु०—महाराज, मालव से एक दूत आया है।

देव०—उसे बुला लो मधुकर, मैं अब कुछ दिनों यहीं अपना निवास रक्खूँगा।

मधुकर जाता है, दूत के साथ फिर आता है

दूत—जय हो देव !

देव०—कहो क्या समाचार है ?

दूत—महाराज के अनुग्रह से सब मंगल है। मंत्रिवर ने यह प्रार्थना-पत्र श्रीचरणों में भेजा है।

पत्र देता है

देव०—(पढ़ता है)—"स्वस्ति श्री इत्यादि महाराज की... आज्ञा के अनुसार वीरसेन सेना के साथ निर्दिष्ट स्थान पर प्रेरित हो चुके हैं। और भी एक सहस्र सैनिक दूत के साथ ही अनेक वेशों में आपके समीप उपस्थित हैं। संकेत पाते ही एकत्र हो

सकेंगे। किन्तु देव, परिणाम-दर्शी होकर कार्य आरम्भ करें—यही प्रार्थना है।" (हँसकर पत्र फाड़ता हुआ)—मंत्री वृद्ध हो गये हैं ! जाओ विश्राम करो।

दूत जाता है

सुरमा का प्रवेश

देव०—आओ सुरमा, यह मेरा साथी एक और श्रेष्ठि आ गया है; तुम्हें कष्ट तो न होगा ?

सुरमा—(माला एक ओर रखती हुई)—कष्ट ! ओह ! कष्टों का तो अभ्यास हो गया है। अभी राज-मंदिर से हो आई। सुना है कि महाराज मृगया के लिये सीमाप्रांत चले गये हैं। मैं उन विभव-विलास के प्रदर्शनों को, उपकरणों को, अपनी दरिद्रता की हँसी उड़ाते देखती हुई, लौट आई हूँ। यह माला, यह मल्लिका का वाल-व्यजन क्या होगा—मेरा दिन भर का परिश्रम !

देव०—(सहानुभूति से)—तो मैं इसे ले सकता हूँ सुरमा !

सुरमा—आप ? ले लीजिये !

देव०—तुम्हारे महाराज कुपित तो न होंगे ?

सुरमा—होना है सो हो जाय—श्रेष्ठि, मैं राजा को देख कर बड़ा डरती हूँ ! वहाँ जाना होता है तो मैं जैसे आग में, पानी में जा रही हूँ ! पैर काँपने लगते हैं—मानो भूकम्प में चल रही हूँ !

देव०—और यदि मैं भी कहीं का राजा होऊँ सुरमा !

सुरमा—(देखकर)—तुम ! तुम राजा नहीं हो सकते;

असंभव है। तुम तो हमारे-जैसे ही लोग हो, तुम्हारी मुख की ज्योति—उहूँ, तुम और चाहे कुछ बन जाओ, राजा नहीं हो सकते।

देव०—वाह सुरमा! तुम सामुद्रिक भी जानती हो!

सुरमा—(पास बैठकर)—अहा! कितनी सुहावनी रात है—चन्द्रिका के मुख पर कुहरे का अवगुण्ठन नहीं! स्वच्छ अनन्त में देवताओं के दीप झलमला रहे हैं—कितना सुन्दर है!

देव०—(स्वगत) कितनी भावनामयी यह युवती है—अवश्य इसके हृदय में महत्त्व की आकांक्षा है।—(प्रकट)—क्यों सुरमा, ऐसी रात तो सुन्दर संगीत खोजती है—तुम कुछ गाना भी जानती हो?

सुरमा—(कृत्रिम क्रोध से)—वाह! आप तो धीरे-धीरे हाथ-पाँव फैलाने लगे!

देव०—(अनुनय से)—सुन्दरी! एक तान! अपराध क्षमा हो! विदेश की यह रजनी आजीवन स्मरण रहेगी—दुहाई है!

सुरमा—मैं जानती हूँ कि नहीं, यह नहीं जानती; पर गाती हूँ—कभी-कभी अपने दुखी दिनों पर रोती हूँ अवश्य!

देव०—वही सही सुरमा!

सुरमा—(गाती है)—

[illegible]

[illegible]

दूर हट रहा सरवर शीतल,
हुआ चाहता अब तो ओझल,
झुक जाती हैं पलकें दुर्बल,
ध्वनि सुन न पड़ी नव घन की रे !

ओ बेपीर पार ! हूँ हारी,
जाने दे, हूँ मैं अधमारी,
सिसक रही घायल दुखिया री—
गाँठ भूल जीवन-धन की रे !

आशा०

४

प्रकोष्ठ में मंत्री

दूत—(प्रवेश करके)—आर्य ! भयानक समाचार है !

मंत्री—क्या है ?

दूत—सीमाप्रांत के कानन में महाराज तो सुख से मृगया-विनोद में दिवस-यापन कर रहे हैं, किन्तु......

मंत्री—कहो-कहो, किन्तु क्या ?

दूत—युद्ध की आशंका है ! मालवेश्वर की सीमा हमारी सीमा से मिली हुई है। अकारण उनकी सेना आजकल सीमा पर एकत्र होने लगी है और महाराज को चिढ़ाने के लिये जान-बूझ

कर कुछ धृष्टता की जा रही है। इसलिये महाराज ने कहा है कि सेनापति को सेना के साथ शीघ्र यहाँ आ जाना चाहिये।

मंत्री—किन्तु जैसे समाचार नगर के मुझे मिले हैं उससे तो मैं स्वयं सशंक हो रहा हूँ। मुझे कान्यकुब्ज के भीतर नागरिकों में कुछ संदेहजनक व्यक्ति होने का पता चला है।—(कुछ सोचकर)—अच्छा, तुम महाराज से कहना कि मैं सैन्य भेजता हूँ, पर अत्यन्त सावधान रहने की आवश्यकता है। मैं नगर-रक्षा के लिये थोड़ी सेना रख लूँगा, क्योंकि स्थाण्वीश्वर से सहायता मिलने में अभी विलम्ब होगा। मैं वहाँ भी संदेश भेजता हूँ।

दूत का प्रस्थान

तो अब महारानी को भी समाचार देना चाहिये। अब स्मरण आया—आज तो वह दान-पर्व में लगी होंगी। तो चलूँ वहीं। सेना भी तो भेजनी है।

जरा भी कैसी भीषण व्याधि है! अहा! हम लोग इसे नित्य देखते हैं, पर तथागत के समान किसने इस दृश्य से लाभ उठाया? इतने दिन काम किया, अब भी तृष्णा न छूटी! चलूँ—मुझे पहुँचने में भी तो विलम्ब होगा।

तो पहिले सेनापति से मिलूँ या महारानी से?—(सोचकर)—पहिले सेनापति से—यही ठीक होगा।

प्रस्थान

५

देव-मंदिर में राज्यश्री

दान के उपकरण और भिक्षु उपस्थित हैं

राज्य०—(भिक्षुओं को वस्त्र और धन देती है—शांतिदेव सामने आता है)—तुम्हारा शुभ-नाम भिक्षु ?

शांतिदेव—जय हो ! मेरा नाम शांतिभिक्षु........

रुक कर राज्यश्री की ओर देखने लगता है

राज्यश्री—भिक्षु, तुमने प्रवज्या ग्रहण कर ली है, किन्तु तुम्हारा हृदय अभी..........

शांति०—कल्याणी ! मैं, मेरा अपराध—

राज्यश्री—हाँ तुम ! भिक्षु ! तुम्हें शील-सम्पदा नहीं मिली, जो सर्व-प्रथम मिलनी चाहिये।

शांति—मैं सब ओर से दरिद्र हूँ देवि !—(स्वगत)—विश्व में इतनी विभूति ? और मैं—सिर ऊँचा करके अत्यंत ऊँचाई की ओर देखता हुआ केवल उलटा होकर गिर जाता हूँ—चढ़ने की कौन कहे !

राज्य०—क्या सोचते हो, भिक्षु !

शांति०—केवल अपनी क्षुद्रता—

राज्य०—तुम संयत करो अपने मन को भिक्षु ! श्लाघा और आकांक्षा का पथ तुम बहुत पहले छोड़ चुके हो। यदि तुम्हारी

कोई अत्यन्त आवश्यकता हो तो मैं पूरी कर सकती हूँ; निश्चिन्त उपासना की व्यवस्था करा दे सकती हूँ।

शांति०—(स्वगत) इतना सौन्दर्य, विभव और शक्ति एकत्र !

राज्य०—तुम चुप क्यों हो, भिक्षु !

शांति०—मुझे जो चाहिये वह नहीं मिल सकता—इसलिये मैं न माँगूँगा।

राज्य०—भिक्षु ! मेरा व्रत न खण्डित करो।

शांति०—नहीं, मैं दान न लूँगा; मुझे कुछ न चाहिये।

प्रस्थान

राज्य०—विमला ! मैं इस प्रसंग से दुखी हो गई हूँ।

विमला—चिन्ता न कीजिये देवि, पूजन भी तो हो चुका है। अब पधारिये।

राज्य०—चलती हूँ सखि ! मेरा हृदय कह रहा है कि महाराज का कोई संदेश आ ही रहा है।

अमला—प्रियजन की उत्कण्ठा में प्रायः ऐसा ही भ्रम हुआ करता है।

[प्रतिहारी का प्रवेश]

प्रति०—महादेवी की जय हो ! मंत्री महोदय आ रहे हैं।

राज्य०—आने दो।

मंत्री०—(प्रवेश करके)—महादेवी की जय हो ! कुछ निवेदन...

राज्य०—कहिये-कहिये—

मंत्री—सीमाप्रांत से युद्ध का संदेश आया है।

राज्य०—(स्वस्थ होकर)—मंत्री ! इसी बात को कहने में आप संकुचित होते थे ! क्षत्राणी के लिये इससे बढ़कर शुभ-समाचार कौन होगा ! आप प्रबंध कीजिये, मैं निर्भय हूँ।

मंत्री का प्रस्थान

राज्य०—चलो, सब लोग फिर से विजय के लिए प्रार्थना कर लें।

सब प्रतिमा के सामने जाकर प्रार्थना करती हैं—पुष्पांजलि चढ़ाती हैं, मंदिर में अट्टहास, राज्यश्री मूर्च्छित होती है, अन्धकार।

६

सुरमा का उपवन

देवगुप्त—सुरमा, तुमको जब बड़े कष्ट से उपवन सींचते देखता हूँ और परिश्रम से फूलों को चुनते और उनकी माला बनाते देखता हूँ तो मेरा हृदय व्यथित होता है !

सुरमा—क्यों, इतनी सहानुभूति तो आज तक किसी ने मेरे साथ नहीं दिखलाई !

देव०—मेरा हृदय जाने; इस 'क्यों' का कारण मैं क्या बतलाऊँ। यह कुसुम तो कामदेव की उपासना में मुकुट की शोभा बढ़ा सकता है !

सुरमा—किसी की अधिक प्रशंसा करना उसे धोखा देना है, श्रेष्ठि ! तुम्हारा......

देव०—ठहरो सुरमा ! मैं श्रेष्ठि नहीं हूँ—आज मैं तुम्हें अभिन्न समझकर अपना रहस्य कहता हूँ। मैं मालव-नरेश देवगुप्त हूँ।

सुरमा—(आश्चर्य से)—क्या ?

दूत—(प्रवेश करके)—जय हो देव, स्थाण्वीश्वर में प्रभाकरवर्धन का निधन हुआ और राज्यवर्धन इस समय हूण-युद्ध के लिये पञ्चनद गये हैं।

देव०—अच्छा जाओ !

दूत का प्रस्थान

सुरमा—तुम—आप—मालव के—

देव०—हाँ सुरमा, चलोगी मेरे साथ ?

सुरमा—यह भी सत्य है ? नहीं महाराज ! जैसे आपका वेष कृत्रिम है, वैसे ही यह वाणी भी तो नहीं ?

देव०—नहीं प्रिये, मैं तुम्हारा अनुचर हूँ।

सुरमा—हे भगवान ! इतना बड़ा सौभाग्य ! नहीं, यह मेरे अदृष्ट का उपहास है।

देव०—सुन्दरी यह उपहास नहीं, सत्य है।

सुरमा—परन्तु शांतिभिक्षु की प्रतीक्षा !

देव०—कौन शांतिभिक्षु ? उसे कुछ दान दिया चाहती हो—। ?

सुरमा—नहीं, दे चुकी हूँ !

देव०—तो दे दो; यह उपवन ही न—तुम्हें अब इसकी आवश्यकता ही क्या ?

सुरमा—वही करूंगी।

देव०—मुझे तुमने प्राण-दान दिया, परन्तु देखो, ज़ब तक यहाँ से हम लोग मालव के लिये प्रस्थान न कर यह बात न खुलने पावे।

सुरमा—अच्छा जाती हूँ, विश्वास रखिये—(अस्तव्यस्त भाव से उठ जाती है)

मधुकर का प्रवेश

देव०—सीमा का क्या समाचार है ? वीरसेन की वीरता पर तो मुझे विश्वास है, पर यह मौखरी भी सहज नहीं। इधर मैं इतने मनुष्यों के साथ एक दूसरी राजधानी में पड़ा हूँ, बड़ी विषम समस्या है। क्या करूँ, कुछ समझ में नहीं आता।

मधुकर—सीमाप्रांत में विजय मिलने की निश्चित सम्भावना है और यदि ऐसा न हुआ तो शीघ्र ही मालव पहुँच कर सब दोष मंत्री के सिर रख कर अलग हो जाइयेगा, संधि का प्रस्ताव भेज दीजियेगा। क्योंकि यह तो प्रसिद्ध है ही कि मालवेश्वर बहुत दिनों से तीर्थ-यात्रा के लिये गये हैं।

देव०—मधुकर ! देवगुप्त उसी गुप्त-कुल का है जिसके नाम से एक दिन समस्त जम्बूद्वीप विकम्पित होता था। आज सिंह-विहीन जंगल में स्यारों का राज्य है। मुझे एक बार वही चेष्टा

करनी होगी। स्थाण्वीश्वर और कान्यकुब्ज दोनों का ध्वंस करना है।

मधु०—दैव अनुकूल होने से आपकी इच्छा पूरी ही होगी।

चर का प्रवेश

चर—जय हो देव! सीमाप्रांत का युद्ध आपके पक्ष में सफल हुआ। ग्रहवर्मा को कड़ी चोट आई है। क्योंकि वीरसेन ने कान्यकुब्ज की सेना पहुँचने के पहिले ही युद्ध आरम्भ कर दिया था। इधर दुर्ग में भी सेना बहुत कम है।

देव०—मेरा अनुमान है कि मेरे सैनिक उनसे अधिक हैं। मधुकर! सुनो तो—(कान में कुछ कहता है, प्रकट)—जब कुछ और सेना सीमा की ओर चली जाय तो जिस ढंग से बताया है, उसी प्रकार मेरे सब सैनिक दुर्ग में एकत्र हों। 'विजय' संकेत होगा, जाओ—बस।

सबका प्रस्थान

७

प्रकोष्ठ में मूर्च्छित राज्यश्री और सखियाँ

विमला—सखी! क्या होगा!

कमला—क्या कहूँ, मंदिर वाली घटना से अभी तक एक

चार भी पूरी चेतना नहीं हुई। सखी ! यह बात तो आश्चर्यजनक हुई – क्या कोई अपदेवता वहाँ उस दिन आ गया था ?

विमला—सखी, मैं तो समझती हूँ, वही भिक्षु ठठाकर हँस पड़ा और महारानी को प्रतिमा हँसने के अपशकुन की आशंका हुई।

कमला—देख, देख, अब उठ रही हैं, कुछ कहा ही चाहती हैं—

मंत्री का प्रवेश, राज्यश्री उठकर प्रलाप करती है

राज्य०—हँस दिया—हाँ, हँस दिया ! मेरी प्रार्थना पर हँस दिया ! क्या वह अनुचित थी ? मेरी बात क्या हँसने योग्य थी ? नहीं, नहीं, हँसी का कारण है मेरा निर्बल होना। हँसो और भी हँसो ! मेरी प्रार्थना तुम्हारे कर्कश कठोर अट्टहास में विलीन हो जाय ! हा हा हा हा !

मंत्री—किससे और क्या कहूँ ? जिसकी आशंका-मात्र से यह दशा है, उसे वास्तविक समाचार देने का क्या परिणाम होगा ? कुटिलते ! देख, तूने एक सोने का संसार मिट्टी में मिला दिया !

प्रतिहारी का त्रस्तभाव से प्रवेश

प्रति०—आर्य ! न मालूम क्यों दुर्ग में बड़ी भीड़ इकट्ठी हो रही है। प्रजा कह रही है कि मुझे महाराज की सच्ची अवस्था मालूम होनी चाहिये।

मंत्री—उन लोगों से कहो कि हम अभी आते हैं।

प्रतिहारी का प्रस्थान

राज्यश्री उठ कर उन्मत्तभाव से टहलती है

प्रति०—(पुनः प्रवेश करके)—अनर्थ !

मंत्री—क्या हुआ ? कुछ कहो भी !

प्रति०—उन्हीं प्रजाओं के साथ दुर्ग में सहस्रों शत्रु घुस आये हैं !

मंत्री—हूँ ! वह प्रजा न थी, जो इस तरह षड्यन्त्र करके दुर्ग में चली आई ? वे शत्रु........

विचारने लगता है

एक सैनिक का प्रवेश

सैनिक—मंत्रिवर ! दुर्ग-रक्षक सैन्य संग्रह करके आत्म-रक्षा का प्रबंध कर रहे हैं। उन्होंने मुझे यह कहने के लिये भेजा है कि इस उपद्रव का नेता वही दुष्ट वणिक-वेषधारी मालवेश है।

मंत्री—(चौंक कर)—क्या मालवेश ? अच्छा ! जाओ, युद्ध में पीछे न हटना ! कान्यकुब्ज के एक भी सैनिक के जीवित रहते देवगुप्त दुर्ग पर अधिकार न करने पावे।

सैनिक का प्रस्थान

राज्य०—मंत्री ! उसने हँस दिया !

नेपथ्य में रण कोलाहल

मंत्री—विमला ! यहाँ महारानी का रहना ठीक नहीं।

राज्य०—महारानी फिर कहाँ जायँगी ?

मंत्री—शत्रु दुर्ग में घुस आये हैं।

राज्य०—जाओ, उन्हें सादर लिवा लाओ।

मंत्री—हे भगवन्!

देवगुप्त का विजयी सैनिकों के साथ प्रवेश। राज्यश्री मंत्री का खड्ग ले लेती है और देवगुप्त पर उसे चलाती है, देवगुप्त उसे पकड़ता है और वह मूर्च्छित होती है

यवनिका

द्वितीय अंक

१

सुरमा का उपवन, अकेले शांतिभिक्षु

शांति०—मैं संसार से अलग किया गया था—किस लिये ? पिता ने मुझे भिक्षु-संघ में समर्पण किया था—क्या इसलिये कि मैं धार्मिक जीवन व्यतीत करूँ? मेरे लिये उस हृदय में दया या सहानुभूति न थी ! जब हृदय-कानन को आशा-लता बलवती हुई तो मैं देखता हूँ कि कर्मक्षेत्र में मेरे लिये कुछ अवशिष्ट नहीं। सुरमा—जीवन की पहली चिनगारी—वह भी किधर गई ! धधक उठी एक ज्वाला—राज्यश्री !—(सोचकर)—मूर्ख ! मैं निश्चय नहीं कर पाता कि सुरमा या राज्यश्री—मेरे जलते हुए ग्रहपिण्ड के भ्रमण का कौन केन्द्र है ! कान्यकुब्ज में इतना बड़ा परिवर्तन ! इधर सुरमा भी न-जाने कहाँ गई ! तो क्या करूँ ? लौट जाऊँ संघ में ? नहीं, संघ मेरे लिये नहीं है। अब यहीं कुटी में रहूँगा। तो क्या मैं तपस्वी होऊँगा ? नहीं, अच्छा जो नियति करावे।—(देखकर)—ओह ! कैसी काली रात है !

सोता है, डाकुओं का प्रवेश

एक—आज जो सेना हम लोगों ने देखी, वह किसकी है ?

दूसरा—राज्यवर्धन की सेना है। राज्यश्री और ग्रहवर्मा का प्रतिशोध लेने आ रही है।

पहिला—तो क्या राज्यश्री भी मार डाली गई?

दूसरा—नहीं जी, वह तो वंदी है। इसी गड़बड़ी में तो अपना हाथ लगेगा। क्या वताऊँ, यदि राज्यश्री को हम लोग पा जाते तो वहुत-सा धन मिलता।

शांतिभिक्षु करवटें वदलता है

पहिला—(उसे देखकर)—तू कौन है रे?

शांति०—विकटघोष!

दूसरा—सो तो तेरे लम्वे-चौड़े हाथ-पैर और कर्कश कण्ठ से ही प्रकट है, पर तू करता क्या है?

शांति०—मैं कान्यकुब्ज का दस्यु हूँ, मूर्ख! मेरे क्षेत्र में तू क्यों आया?

पहिला—भाई विकटघोष! तो हम लोग भी तुम्हें अपना नेता मानेंगे।

विकट०—यह वात! तो फिर राज्यश्री को अकेले लोप करने का प्रयत्न न करना! समझा!

दोनों—नहीं, भला ऐसा भी हो सकता है! परन्तु दस्युपति, एक और भी सेना गौड़ की आ रही है। इन दोनों के आक्रमण के वीच से राज्यश्री को निकाल ले जाना सहज काम नहीं।

विकट०—डरपोक! इसी वल पर दस्यु वना है!

दोनों—नहीं, हम लोग प्राण देने या लेने में पीछे नहीं हटते।

विकट०—तो अच्छी बात है! चलो, हम लोग आज रात में दोनों सेनाओं का लक्ष्य तो समझ लें।

दोनों—चलो।

तीनों का प्रस्थान

वन-पथ

कुछ सैनिकों के साथ भण्डि का प्रवेश

भण्डि—क्यों जी, अब तो मेरा अनुमान है कि कन्नौज की सीमा समीप है।

एक सैनिक—हम लोग तो आज ही पहुँच गये होते यदि गौड़राज की प्रतीक्षा में समय नष्ट न किया गया होता।

भण्डि—आज ही तो नरेन्द्रगुप्त शशाङ्क के आने का निश्चय था, और इसी कानन का स्थान नियत था, फिर अभी वे क्यों नहीं आये?

अन्य सै०—आवें चाहे न आवें। सेनापति! इस अकारण मैत्री से मेरा चित्त तो बहुत शङ्कित हो रहा है। महाकुमार ने न जाने क्यों उस पर इतना विश्वास कर लिया है। क्या हम लोग स्वयं इस दुष्ट मालवपति को दण्ड देने में असमर्थ हैं......?

भण्डि—यह ठीक है, पर यदि राजनीति मित्रता से सफल होती हो तो विग्रह करना उचित नहीं। उसकी भी स्थाण्वीश्वर से मैत्री करने की इच्छा है। क्यों? केवल वर्धनों का लोहा मानकर!

तीसरा सै०—अच्छा तो अब आप पट-मण्डप में विश्राम करें, महाकुमार के पूछने पर आपको मैं सूचना दूँगा। शिविर आपका समीप है।

भण्डि—अच्छा—(सामने देखकर)—ये तीन कौन अपरिचित-से चले आ रहे हैं!

विकटघोष का अपने दो साथियों सहित प्रवेश

विकट०—(प्रणाम करके)—सेनापति की कृपा से मेरा मनोरथ पूर्ण हो।

भण्डि—तुम्हारी क्या अभिलाषा है?

विकट०—हम लोग साहसिक है, परन्तु अब चारित्र्य और वीरतापूर्ण जीवन व्यतीत करना चाहते हैं; देवगुप्त हमारा चिरशत्रु है, उससे प्रतिशोध लेना हमारा अभीष्ट है।

भण्डि—किन्तु तुम्हारा विश्वास?

विकट०—क्या हम तीन वीरों से आप डरते हैं—क्या इतनी बड़ी सेना को हम तीन व्यक्ति वञ्चित कर सकते हैं! इतनी मूर्खता मेरे मन में तो नहीं है, सेनापति!

भण्डि—किन्तु...

विकट०—किन्तु कौन जन्तु है, मैं नहीं जानता! वीरों के

पास कोई प्रमाण-पत्र नहीं लिखा रहता, सेनापति ! यदि आप अविश्वास करते हों तो हम लोग चले जाँय।

भण्डि—तुम्हारा परिचय ?

विकट०—मेरा नाम है विकटघोष और ये दोनों मेरे शूर साथी हैं। मैं आपका उपकार करूँगा; विजय में उपयोगी सिद्ध हो सकूँगा।

भण्डि—क्या ?

विकट०—मुझे कान्यकुब्ज-दुर्ग के गुप्त-मार्ग विदित हैं, उनके द्वारा सुगमता से आपको विजय मिल सकती है।

भण्डि—(कुछ विचार कर)—तुम मुझे तो कोई हानि नहीं पहुँचा सकते। अस्तु, तुम पञ्चनद गुल्म में सम्मिलित किये गये। (पूर्व सैनिक से)—गौल्मिक ! इन्हें ले जाओ।

सब जाते हैं

३

शिविर

राज्यवर्धन, नरेन्द्रगुप्त, भण्डि

नरेन्द्र०—दुरात्मा देवगुप्त ने कैसे कुसमय में यह उत्पात मचाया ! जब आप दोनों भाई पिता के शोक में व्याकुल थे, तभी

उसे नारकीय अभिनय करने का अवसर मिला! अच्छा, धैर्य और शांति से अग्रसर होकर......

राज्य०—शांति कहाँ, गौडेश्वर! अपने इन दुर्वृत्त वैरियों से बदला लेना और तुरन्त दण्ड देना मेरे जीवन का प्रथम कार्य है। अपने बाहुबल से प्रतिशोध न लेकर चित्त को संतोष देना मेरा काम नहीं।

नरेन्द्र०—ऐसा ही होगा।

राज्य०—होगा नहीं, हुआ समझो। राज्यवर्धन वह राख की ढेर नहीं, जो शत्रु-सुख के पवन से धधक न उठे। यह ज्वाला है; उत्तरापथ को जलाकर शांत होगी। गौडेश्वर, तुम तो वर्धनों के बंधु हो, परन्तु यह तुमसे न छिपा होगा कि स्थाण्वीश्वर की उन्नति अनेक नरेशों की आँखों में खटक रही है। अभी पंचनद से हूणों को विताड़ित किया और जालंधर में उदितराज को स्कन्धावार में छोड़ आया। परन्तु मैं देखता हूँ कि हूणों से पहले अपने घर में ही युद्ध करना पड़ेगा।

भण्डि—देव, उसके लिए चिन्ता क्या! हमारा शस्त्र-बल उचित दण्ड देने में कभी पीछे न रहेगा। महोदय और मगध तो हम लोगों के मित्र ही हैं—पश्चिम आर्यावर्त में ही तो संघर्ष है।

नरेन्द्र०—कुछ चिन्ता न कीजिये—गौड़ और मगध की समस्त शक्ति आपके लिए प्रस्तुत है।

राज्य०—भण्डि, महोदय-दुर्ग लेने की क्या उपाय निश्चित

किया है ? ध्वंस करने की तो मेरी इच्छा नहीं; और अवरोध में भी अधिक दिन बिताना ठीक नहीं।

भण्डि—उसके लिए चिन्ता न कीजिये देव, सब यथासमय आप देखेंगे। विश्राम कीजिये।

दूत का प्रवेश

दूत—जय हो, देव !

राज्य०—क्या समाचार है ?

दूत—दुर्ग के भीतर बहुत थोड़ी सेना है और देवी राज्यश्री भी वहीं हैं।

राज्य०—मैं अभी आक्रमण करना चाहता हूँ।

भण्डि—विश्राम कीजिये। आज भर केवल; कल ही आप देखेंगे कि विजय-लक्ष्मी आपका स्वागत करती है।

राज्य०—ऐसा ही हो, भण्डि !

४

दुर्ग के भीतर एक प्रकोष्ठ में राज्यश्री और विमला

विमला—सिर की वेदना तो अब कम है न महादेवी !

राज्य०—वेदना रोम-रोम में खड़ी है, विमला ! चेतना ने तो भूली हुई यातनाओं, अत्याचार और इस छोटे-से जीवन पर

संसार के दिये हुए कष्टों को फिर से सजीव कर दिया है। सखी ! औषधि न देकर यदि तू विष देती तो कितना उपकार करती।

कमला—भगवान पर विश्वास रखिये।

राज्य०—विश्वास ! सखी, विश्वास तो मेरा प्रत्येक श्वास कर रहा है। मैं तो समझती हूँ कि मेरी प्रार्थना—मेरी आर्त-वाणी—उन कानों में पहुँचती ही नहीं है।

विमला—गर्व से भरे मनुष्यों का ही यह स्वभाव है—जिनके कान मोतियों के कुण्डल से बाहर लदे हैं और प्रशंसा एवं संगीत की झनकारों से भीतर भी भरे हैं, वे ही क्रंदन नहीं सुनना चाहते।

राज्य०—जैसी उनकी इच्छा। तो क्या सर्वत्र शत्रु का अधिकार हो गया है ?

कमला—दुर्दैव ने सब करा दिया !

देवगुप्त का प्रवेश

राज्य०—यह कौन !

देव०—मैं हूँ देवगुप्त। राज्यश्री ! तुम्हें स्वस्थ देखकर मैं प्रसन्न हुआ।

विमला—अधखिली वसंत की कली को जलती हुई धूल में गिरा कर भीषण अंधड़ चिल्ला कर कहता है—"तुम स्वस्थ हो !" शांत सरोवर की कुमुदिनी को पैरों से कुचल कर उन्मत्त, गज उसे सहलाना चाहता है।

देव०—राज्यश्री ! अपनी इन दासियों को मना करो। मैं तुमसे बात करना चाहता हूँ।

राज्य०—तुम देवगुप्त ? मुझसे बात करने के अधिकारी नहीं हो—मैं तुम्हारी दासी नहीं हूँ। एक निर्लज्ज प्रवञ्चक का इतना साहस !

देव०—सुन्दरी !

राज्य०—बस मैं सचेत हूँ देवगुप्त ! मुझे अपने प्राणों पर अधिकार है। मैं तुम्हारा वध न कर सकी तो क्या अपना प्राण भी नहीं दे सकती ?

देव०—तब तुम इस राज-मन्दिर को बंदीगृह बनाना चाहती हो ?

राज्य०—नरक में रहना हो सो भी अच्छा !

देव०—तब यही हो—(ताली बजाता है—चार सैनिकों का प्रवेश) देखो आज से ये लोग वन्दी हैं—सावधान ! इनके साथ वही—व्यवहार करना होगा।

प्रस्थान

५

प्रकोष्ठ में मधुकर—रात्रि

मधु०—देखूं अब क्या होता है ?

विकटघोष पीछे से आकर चपत लगाता है

मधु०—(सिर सहलाता हुआ)—क्या यही होना था ? भाई तुम हो कौन ? मुझसे तुमसे कब का परिचय है ?—यह परिहास कैसा ?

विकट०—यह तुम नहीं जानते—हम तुम साथ ही न वहाँ पढ़ते थे। तुम एक चपत लगाकर गुरुकुल छोड़ कर भाग आये और राजसहचर बनकर आनंद करने लगे। यह उसी का प्रतिशोध है। स्मरण हुआ ? मेरा नाम है विकटघोष !

मधु०—(विचारने की मुद्रा से)—होगा। होगा भाई, वह तो पाठशाला का लड़कपन था; अब हम-तुम दोनों बड़े हो गये। फिर, वैसी बात न होनी चाहिये।

विकट०—यह सब तो मित्रता में चलता ही रहता है; पर तुमने मुझे पहचाना ठीक !

मधु०—ठीक ! क्या नाम ?

विकट०—विकटघोष।

मधु०—ओह ! तब आप शंख-घोष करते। यह मेरी रोएँदार खँजड़ी क्यों बजा रहे थे ? आप इतनी रात को अतिथि !

विकट०—मैं शीघ्र चला जाऊँगा।

मधु०—हाँ ! अधिक कष्ट करने की आवश्यकता नहीं—आपको दूर जाना भी होगा ?

विकट०—चुप रहो; पहले यह तो पूछा ही नहीं कि तुम क्यों आये थे।

मधु०—आप जाइये, मैं पूछ लूँगा! उधर—(राह दिखलाता है)

विकट०—मुझे तुम्हारी महारानी से मिलना है।

मधु०—तब आपको उस ठाट से आना चाहिये था! यह भयानक दाढ़ी और बिच्छू की दुम—नहीं-नहीं, डंक-सी मूँछ! उहुँ! आप तनिक भी सहृदय नहीं—इसे कुछ नीची कीजिये!

हाथ बढ़ाता है

विकट०—(झटक कर)—सीधे बताओ किधर से जाना होगा?

मधु०—दो पथ हैं। एक सुन्दर राजमंदिर में जाता है, जहाँ श्रीमती सुरमा देवी विराजमान हैं और दूसरा वन्दीगृह में, जहाँ राज्यश्री हैं। आप किस रानी से भेंट किया चाहते हैं?

विकट०—(चौंक कर)—सुरमा! कौन?

मधु०—अजी! वह नई रानी हैं—इस नये राज्य की! समझते नहीं, राजा लोग जब नये राज्य बना सकते हैं, तो उसमें रानी वही पुरानी रक्खेंगे!

विकट०—यह कहाँ की राजकुमारी है?

मधु०—अरे इसी बुद्धि पर तुम रानी से मिलने चले हो। (उसे छुरा निकालते देख कर डरता हुआ)—पहले उसे भीतर करो, नहीं तो मेरे प्राण बाहर आ जायँगे!

विकट०—तो बताओ शीघ्र।

मधु०—वह तो इसी कान्यकुब्ज की एक मालिन है। उसे भीतर.........(भयभीत हो कर छुरे को देखता है)

विकट०—(छुरे को भीतर रखता हुआ सोचता है)—तो क्या वही सुरमा—वह रानी ! देवगुप्त की प्रणयिनी ! उसके यहाँ कौन-सा पथ जायगा ?

मधु०—यही—(सामने दिखाकर)—और उधर—(बताकर)—आप राज्यश्री से मिल सकते हैं।

विकट०—अच्छा अब तुम विश्राम करो।

उसका हाथ पैर बाँधने लगता है

मधु०—यह क्या ?—यही मित्रता है !

विकट०—चुप रहो—(संकेत करता है)

दूसरा दस्यु आता है; उसे वहीं छोड़कर विकटघोष चला जाता है, दूसरा दस्यु उसे घसीट कर ले जाता है।

६

उपवन में सुरमा और देवगुप्त

देव०—आज सुरमा ! अच्छी तरह पिला दो। कल तो मुझे भयानक युद्ध के लिये प्रस्तुत होना है। तुम कितनी सुन्दर हो सुरमा !

विकट०—चुप रहो; पहले यह तो पूछा ही नहीं कि तुम क्यों आये थे।

मधु०—आप जाइये, मैं पूछ लूँगा! उधर—(राह दिखलाता है)

विकट०—मुझे तुम्हारी महारानी से मिलना है।

मधु०—तब आपको उस ठाट से आना चाहिये था! यह भयानक दाढ़ी और बिच्छू की दुम—नहीं-नहीं, डंक-सी मूँछ! उहुँ! आप तनिक भी सहृदय नहीं—इसे कुछ नीची कीजिये!

हाथ बढ़ाता है

विकट०—(झटक कर)—सीधे बताओ किधर से जाना होगा?

मधु०—दो पथ हैं। एक सुन्दर राजमंदिर में जाता है, जहाँ श्रीमती सुरमा देवी विराजमान हैं और दूसरा वन्दीगृह में, जहाँ राज्यश्री हैं। आप किस रानी से भेंट किया चाहते हैं?

विकट०—(चौंक कर)—सुरमा! कौन?

मधु०—अजी! वह नई रानी हैं—इस नये राज्य की! समझते नहीं, राजा लोग जब नये राज्य बना सकते हैं, तो उसमें रानी वही पुरानी रक्खेंगे!

विकट०—यह कहाँ की राजकुमारी है?

मधु०—अरे इसी बुद्धि पर तुम रानी से मिलने चले हो। (उसे छुरा निकालते देख कर डरता हुआ)—पहले उसे भीतर करो, नहीं तो मेरे प्राण बाहर आ जायँगे!

लिये व्यथा का भार
सिसक-सिसक उठता है मन में,
किस सुहाग के अपनेपन में,
'छुईमुई'-सा होता, हँसता,
कितना है सुकुमार

देव०—सुरमा ! तुम कितनी मधुर हो—मेरे जीवन की ध्रुव-तारिका !

नेपथ्य से

"यह तुम्हारे दुर्भाग्य के मन्द ग्रह की प्रभा है !"

देव०—(चौंक कर)—यह कौन ?

नेपथ्य से

"मैं हूँ। सुरमा के उपवन का यक्ष। सावधान ! इस अपनी विपत्ति और अलक्ष्मी से अलग हो जाओ, नहीं तो युद्ध में तुम्हारा निधन होगा।"

देव०—यक्ष ? असम्भव ! यक्ष और कोई नहीं, मनुष्य हैं। तुम कौन हो, प्रवञ्चक ?

नेपथ्य से

मैं यक्ष हूँ। तुम्हारी इच्छा हो तो बाण चलाकर देख लो—वही तीर लौट कर तुम्हें लगता है कि नहीं। मैं फिर सावधान कर देता हूँ—सुरमा को अभी अपने पास से अलग करो, नहीं तो पछताओगे।"

रहस्यों को सुनने से रोम-कूप स्वेद-जल से भर उठें, जिसके अपराध का पात्र छलक रहा है, वही समाज का नेता है। जिसके सर्वस्व-हरणकारी करों से कितनों का सर्वनाश हो चुका है, वही महाराज है। जिसके दण्डनीय कार्यों का न्याय करने में परमात्मा को समय लगे, वही दण्ड-विधायक है। यदि किसी साधारण मनुष्य का यही काम होता जो महाराज देवगुप्त ने किया है तो वह चोर, लम्पट और धूर्त आदि उपाधियों से विभूषित होता। परन्तु उन्हें कौन कह सकता है ?—(राज्यश्री को देखकर)—अहा, कैसा देवी का-सा रूप है ! देखते ही श्रद्धा होती है।

अन्य प्रहरियों का प्रवेश

नर०—क्यों जी, तुम लोग अब तक कहाँ थे ? बड़ा विलम्ब किया !

एक—आपको क्या मालूम नहीं ? उधर इतना बखेड़ा फैला है !

नर०—क्या ? कुछ सुनें भी। हम तो यहीं थे न !

एक—राज्यवर्धन की सेना घुसी चली आ रही है।

नर०—और महाराज ?

एक—जायँगे कहाँ ? दुर्ग-द्वार पर तो भीषण युद्ध हो रहा है।

नेपथ्य में रण-वाद्य और कोलाहल

नर०—अच्छा, तुम लोग सावधान रहना। मैं देख आऊँ !

प्रस्थान

दूसरा—क्या कहें, यह चुड़ैल भी हम लोगों के पीछे लगी है, नहीं तो अब तक हम लोग नौ-दो ग्यारह होते !

राज्यश्री—(चैतन्य होकर)—क्यों जी, यह युद्ध का शब्द कैसा ?

पहला—घबराती क्यों हो ? कितनों को मार कर तुम मरोगी !

राज्य०—सुखी मनुष्य ! तुम मरने से इतना डरते हो ! भग्न हृदयों से पूछो—वे मृत्यु की कैसी सुखद कल्पना करते हैं।

दूसरा—अनागत विपत्ति की कल्पना चाहे जितनी सुन्दर हो, पर आ पड़ने पर मृत्यु की विभीषिका उतनी टाल देने की वस्तु नहीं।

राज्य०—अस्त होते हुए अभिमानी भास्कर से पूछो—वह समुद्र में गिरने को कितना उत्सुक है ! पतंग-सदृश निराश हृदय से पूछो कि जल जाने में वह अपना सौभाग्य समझता है या नहीं। और तुम तो सैनिक हो, मरने ही का वेतन पाते हो !

दूसरा—और तुम जीने के लिये ?

रण-कोलाहल—विकटघोष का प्रवेश

विकट०—क्यों, यही गप्प लड़ाने का समय है ? जाओ, शीघ्र युद्ध में जाओ, महाराज ने बुलाया है। मुझे राज्यश्री को दूसरे स्थान में ले जाने की आज्ञा हुई है।

पहिला—तब तो आपके पास कोई आज्ञापत्र होगा ? ऐसे हम लोग कैसे टलें !

तीसरा—यह तो पागल है, भला आप असत्य कहेंगे। हम लोग जाते हैं—(स्वगत)—किसी प्रकार पिण्ड तो छूटे !

सभी का प्रस्थान

विकट०—भद्रे ! शीघ्र चलो। महाराजकुमार राज्यवर्धन का आदेश है कि राज्यश्री को युद्ध से कहीं अलग ले जाओ।

राज्य०—क्या ? भाई राज्यवर्धन !

विकट०—हाँ, उन्होंने कहा है कि युद्ध के और भीषण होने की संभावना है, इसलिये आपको शीघ्र ही किसी सुरक्षित स्थान में पहुँचना चाहिये।

राज्य०—तो चलो।

विकट०—(कुछ विचार कर ताली बजाता है—दो दस्युओं का प्रवेश)—देखो, उसी गुप्त-मार्ग से इन्हें ले चलो, मैं अभी आता हूँ।

राज्यश्री का दस्युओं के साथ प्रस्थान

नेपथ्य से सुरमा का क्रन्दन। रण-कोलाहल। विकटघोष का उस ओर जाना, सुरमा को लिये हुए फिर आना। सुरमा मूर्च्छित-सी।

विकट०—सुरमा ! सावधान ! नहीं तो प्राण न बचेंगे !

सुरमा—(चैतन्य होकर)—कौन शांति !

विकट०—चुप, तुम चाहे कितनी भी कुटिलता ग्रहण करो पर मैं तुम्हें.........

सुरमा—मेरे शांति—मेरे प्रिय !

विकट०—इस अभिनय का काम नहीं। चलो, वह देखो, युद्ध समीप आता जा रहा है। अरे, लो वे इधर ही आ रहे हैं!

विकटघोष सुरमा को लेकर जाता है। एक ओर से देवगुप्त, दूसरी ओर से राज्यवर्धन का प्रवेश

राज्यवर्धन—दुष्ट मालव! अब भागने से काम न चलेगा—सावधान! तेरी नीचता का अंत समीप है।

देवगुप्त—तो मैं प्रस्तुत हूँ।

युद्ध—देवगुप्त की मृत्यु

यवनिका

तृतीय अंक

१

पथ में

सुरमा—तब ?

विकट०—तुम्हारी इच्छा सुरमा ! तुम्हारी शीघ्रता ने दो जीवन नष्ट किया—मैं दस्यु हुआ और तुम एक कामुक की वासना पूर्ण करनेवाली वेश्या।

सुरमा—और तुम राज्यश्री को कहाँ छिपाये हो ?

विकट०—वह मैं नहीं जानता। मेरे साथी—दूसरे दस्यु—उसे ले भागे।

सुरमा—क्यों, क्या तुम्हारे विलम्ब का कारण राज्यश्री का रूप न था ?

विकट०—पर उसकी प्यास तुम्हीं ने जगा दी थी। मैं विचारता था कि किधर बढ़ूँ ? रूप और विभव दोनों के प्रभाव ने मुझे अभिभूत तो कर दिया था, किन्तु मैं तुम्हें भूला न था, सुरमा !

सुरमा—तो अब हम तुम एकत्र संसार की यात्रा कर सकते हैं। विचार कर लो !

विकट०—पतन की चरम सीमा तक चलें, सुरमा! बीच में रुकने की आवश्यकता नहीं। संसार ने हम लोगों की ओर आँख उठाकर नहीं देखा और देखेगा भी नहीं; तब उसकी उपेक्षा ही करूँगा। यदि कुछ ऐसा कर सकूँ कि वह मुझे देखे, मेरी खोज करे, तब तो सही!

सुरमा—यही तो मैं चाहती थी। तुम कुछ ऐसा करो, और मैं तुम्हारी बनूँ।

विकट०—तो चलो, गौड़ के शिविर में चलें।

सुरमा—वहाँ क्या करना होगा?

विकट०—वहाँ चलने पर बताऊँगा; पहले किसी प्रकार शिविर में घुसना होगा।

सुरमा—तुम किसी भी बात को सोचते हो तो बड़ी तीव्रता से!

विकट०—यही मेरी सरलता का प्रमाण है, सुरमा! अब शील-संकोच का डर मुझे नहीं भयभीत कर सकता। यहाँ तक बढ़ आने पर लौटना असंभव है!

नरेन्द्रगुप्त का एक सहचर के साथ प्रवेश—विकटघोष और सुरमा का छिप जाना

नरेन्द्र०—वयस्य! बड़ी विषम समस्या है। राज्यवर्धन आज मेरे शिविर में आवेगा, बस यही अवसर है। मगध के गुप्तों का गौरव इन वर्धनों के चरणों में लोट रहा है—मुझसे यह नहीं

तृतीय अंक

१

पथ में

सुरमा—तब ?

विकट०—तुम्हारी इच्छा सुरमा ! तुम्हारी शीघ्रता ने दो जीवन नष्ट किया—मैं दस्यु हुआ और तुम एक कामुक की वासना पूर्ण करनेवाली वेश्या।

सुरमा—और तुम राज्यश्री को कहाँ छिपाये हो ?

विकट०—वह मैं नहीं जानता। मेरे साथी—दूसरे दस्यु—उसे ले भागे।

सुरमा—क्यों, क्या तुम्हारे विलम्ब का कारण राज्यश्री का रूप न था ?

विकट०—पर उसकी प्यास तुम्हीं ने जगा दी थी। मैं विचारता था कि किधर बढ़ूँ ? रूप और विभव दोनों के प्रभाव ने मुझे अभिभूत तो कर दिया था, किन्तु मैं तुम्हें भूला न था, सुरमा !

सुरमा—तो अब हम तुम एकत्र संसार की यात्रा कर सकते हैं। विचार कर लो !

विकट०—पतन की चरम सीमा तक चलें, सुरमा ! बीच में रुकने की आवश्यकता नहीं। संसार ने हम लोगों की ओर आँख उठाकर नहीं देखा और देखेगा भी नहीं; तब उसकी उपेक्षा ही करूँगा। यदि कुछ ऐसा कर सकूँ कि वह मुझे देखे, मेरी खोज करे, तब तो सही !

सुरमा—यही तो मैं चाहती थी। तुम कुछ ऐसा करो, और मैं तुम्हारी बनूँ।

विकट०—तो चलो, गौड़ के शिविर में चलें।

सुरमा—वहाँ क्या करना होगा ?

विकट०—वहाँ चलने पर बताऊँगा; पहले किसी प्रकार शिविर में घुसना होगा।

सुरमा—तुम किसी भी बात को सोचते हो तो बड़ी तीव्रता से !

विकट०—यही मेरी सरलता का प्रमाण है, सुरमा ! अब शील-संकोच का डर मुझे नहीं भयभीत कर सकता। यहाँ तक बढ़ आने पर लौटना असंभव है !

नरेन्द्रगुप्त का एक सहचर के साथ प्रवेश—विकटघोष और सुरमा का छिप जाना

नरेन्द्र०—वयस्य ! बड़ी विषम समस्या है। राज्यवर्धन आज मेरे शिविर में आवेगा, बस यही अवसर है। मगध के गुप्तों का गौरव इन वर्धनों के चरणों में लोट रहा है—मुझसे यह नहीं

तृतीय अंक

१

पथ में

सुरमा—तब ?

विकट०—तुम्हारी इच्छा सुरमा ! तुम्हारी शीघ्रता ने दो
न नष्ट किया—मैं दस्यु हुआ और तुम एक कामुक की
ना पूर्ण करनेवाली वेश्या।

सुरमा—और तुम राज्यश्री को कहाँ छिपाये हो ?

विकट०—वह मैं नहीं जानता। मेरे साथी—दूसरे दस्यु—
ले भागे।

सुरमा—क्यों, क्या तुम्हारे विलम्ब का कारण राज्यश्री का
न था ?

विकट०—पर उसकी प्यास तुम्हीं ने जगा दी थी। मैं विचा-
था कि किधर बढ़ूँ ? रूप और विभव दोनों के प्रभाव ने मुझे
स्मृत तो कर दिया था, किन्तु मैं तुम्हें भूला न था, सुरमा !

सुरमा—तो अब हम तुम एकत्र संसार की यात्रा कर सकते
विचार कर लो !

विकट०—पतन की चरम सीमा तक चलें, सुरमा ! बीच में रुकने की आवश्यकता नहीं। संसार ने हम लोगों की ओर आँख उठाकर नहीं देखा और देखेगा भी नहीं; तब उसकी उपेक्षा ही करूँगा। यदि कुछ ऐसा कर सकूँ कि वह मुझे देखे, मेरी खोज करे, तब तो सही !

सुरमा—यही तो मैं चाहती थी। तुम कुछ ऐसा करो, और मैं तुम्हारी बनूँ।

विकट०—तो चलो, गौड़ के शिविर में चलें।

सुरमा—वहाँ क्या करना होगा ?

विकट०—वहाँ चलने पर बताऊँगा; पहले किसी प्रकार शिविर में घुसना होगा।

सुरमा—तुम किसी भी बात को सोचते हो तो बड़ी तीव्रता से !

विकट०—यही मेरी सरलता का प्रमाण है, सुरमा ! अब शील-संकोच का डर मुझे नहीं भयभीत कर सकता। यहाँ तक बढ़ आने पर लौटना असंभव है !

नरेन्द्रगुप्त का एक सहचर के साथ प्रवेश—विकटघोष और सुरमा का छिप जाना

नरेन्द्र०—वयस्य ! बड़ी विषम समस्या है। राज्यवर्धन आज मेरे शिविर में आवेगा, बस यही अवसर है। मगध के गुप्तों का गौरव इन वर्धनों के चरणों में लोट रहा है—मुझसे यह नहीं

तृतीय अंक

१

पथ में

सुरमा—तब ?

विकट०—तुम्हारी इच्छा सुरमा ! तुम्हारी शीघ्रता ने दो जीवन नष्ट किया—मैं दस्यु हुआ और तुम एक कामुक की वासना पूर्ण करनेवाली वेश्या।

सुरमा—और तुम राज्यश्री को कहाँ छिपाये हो ?

विकट०—वह मैं नहीं जानता। मेरे साथी—दूसरे दस्यु—उसे ले भागे।

सुरमा—क्यों, क्या तुम्हारे विलम्ब का कारण राज्यश्री का रूप न था ?

विकट०—पर उसकी प्यास तुम्हीं ने जगा दी थी। मैं विचारता था कि किधर बढ़ूँ ? रूप और विभव दोनों के प्रभाव ने मुझे अभिभूत तो कर दिया था, किन्तु मैं तुम्हें भूला न था, सुरमा !

सुरमा—तो अब हम तुम एकत्र संसार की यात्रा कर सकते

विकट०—पतन की चरम सीमा तक चलें, सुरमा ! बीच में रुकने की आवश्यकता नहीं। संसार ने हम लोगों की ओर आँख उठाकर नहीं देखा और देखेगा भी नहीं; तब उसकी उपेक्षा ही करूँगा। यदि कुछ ऐसा कर सकूँ कि वह मुझे देखे, मेरी खोज करे, तब तो सही !

सुरमा—यही तो मैं चाहती थी। तुम कुछ ऐसा करो, और मैं तुम्हारी बनूँ।

विकट०—तो चलो, गौड़ के शिविर में चलें।

सुरमा—वहाँ क्या करना होगा ?

विकट०—वहाँ चलने पर बताऊँगा; पहले किसी प्रकार शिविर में घुसना होगा।

सुरमा—तुम किसी भी बात को सोचते हो तो बड़ी तीव्रता से !

विकट०—यही मेरी सरलता का प्रमाण है, सुरमा ! अब शील-संकोच का डर मुझे नहीं भयभीत कर सकता। यहाँ तक बढ़ आने पर लौटना असंभव है !

नरेन्द्रगुप्त का एक सहचर के साथ प्रवेश—विकटघोष और सुरमा का छिप जाना

नरेन्द्र०—वयस्य ! बड़ी विषम समस्या है। राज्यवर्धन आज मेरे शिविर में आवेगा, बस यही अवसर है। मगध के गुप्तों का गौरव इन वर्धनों के चरणों में लोट रहा है—मुझसे यह नहीं

तृतीय अंक

१

पथ में

सुरमा—तब ?

विकट०—तुम्हारी इच्छा सुरमा ! तुम्हारी शीघ्रता ने दो जीवन नष्ट किया—मैं दस्यु हुआ और तुम एक कामुक की वासना पूर्ण करनेवाली वेश्या।

सुरमा—और तुम राज्यश्री को कहाँ छिपाये हो ?

विकट०—वह मैं नहीं जानता। मेरे साथी—दूसरे दस्यु—उसे ले भागे।

सुरमा—क्यों, क्या तुम्हारे विलम्ब का कारण राज्यश्री का रूप न था ?

विकट०—पर उसकी प्यास तुम्हीं ने जगा दी थी। मैं विचारता था कि किधर बढ़ूँ ? रूप और विभव दोनों के प्रभाव ने मुझे अभिभूत तो कर दिया था, किन्तु मैं तुम्हें भूला न था, सुरमा !

सुरमा—तो अब हम तुम एकत्र संसार की यात्रा कर सकते हैं। विचार कर लो !

विकट०—पतन की चरम सीमा तक चलें, सुरमा ! बीच में रुकने की आवश्यकता नहीं। संसार ने हम लोगों की ओर आँख उठाकर नहीं देखा और देखेगा भी नहीं; तब उसकी उपेक्षा ही करूँगा। यदि कुछ ऐसा कर सकूँ कि वह मुझे देखे, मेरी खोज करे, तब तो सही !

सुरमा—यही तो मैं चाहती थी। तुम कुछ ऐसा करो, और मैं तुम्हारी बनूँ।

विकट०—तो चलो, गौड़ के शिविर में चलें।

सुरमा—वहाँ क्या करना होगा ?

विकट०—वहाँ चलने पर बताऊँगा; पहले किसी प्रकार शिविर में घुसना होगा।

सुरमा—तुम किसी भी बात को सोचते हो तो बड़ी तीव्रता से !

विकट०—यही मेरी सरलता का प्रमाण है, सुरमा ! अब शील-संकोच का डर मुझे नहीं भयभीत कर सकता। यहाँ तक बढ़ आने पर लौटना असंभव है !

नरेन्द्रगुप्त का एक सहचर के साथ प्रवेश—विकटघोष और सुरमा का छिप जाना

नरेन्द्र०—वयस्य ! बड़ी विषम समस्या है। राज्यवर्धन आज मेरे शिविर में आवेगा, बस यही अवसर है। मगध के गुप्तों का गौरव इन वर्धनों के चरणों में लोट रहा है—मुझसे यह नहीं

तृतीय अंक

१

पथ में

सुरमा—तब ?

विकट०—तुम्हारी इच्छा सुरमा ! तुम्हारी शीघ्रता ने दो जीवन नष्ट किया—मैं दस्यु हुआ और तुम एक कामुक की वासना पूर्ण करनेवाली वेश्या।

सुरमा—और तुम राज्यश्री को कहाँ छिपाये हो ?

विकट०—वह मैं नहीं जानता। मेरे साथी—दूसरे दस्यु—उसे ले भागे।

सुरमा—क्यों, क्या तुम्हारे विलम्ब का कारण राज्यश्री का रूप न था ?

विकट०—पर उसकी प्यास तुम्हीं ने जगा दी थी। मैं विचारता था कि किधर बढ़ूँ ? रूप और विभव दोनों के प्रभाव ने मुझे अभिभूत तो कर दिया था, किन्तु मैं तुम्हें भूला न था, सुरमा !

सुरमा—तो अब हम तुम एकत्र संसार की यात्रा कर सकते हैं। विचार कर लो !

विकट०—पतन की चरम सीमा तक चलें, सुरमा! बीच में रुकने की आवश्यकता नहीं। संसार ने हम लोगों की ओर आँख उठाकर नहीं देखा और देखेगा भी नहीं; तब उसकी उपेक्षा ही करूँगा। यदि कुछ ऐसा कर सकूँ कि वह मुझे देखे, मेरी खोज करे, तब तो सही!

सुरमा—यही तो मैं चाहती थी। तुम कुछ ऐसा करो, और मैं तुम्हारी बनूँ।

विकट०—तो चलो, गौड़ के शिविर में चलें।

सुरमा—वहाँ क्या करना होगा?

विकट०—वहाँ चलने पर बताऊँगा; पहले किसी प्रकार शिविर में घुसना होगा।

सुरमा—तुम किसी भी बात को सोचते हो तो बड़ी तीव्रता से!

विकट०—यही मेरी सरलता का प्रमाण है, सुरमा! अब शील-संकोच का डर मुझे नहीं भयभीत कर सकता। यहाँ तक बढ़ आने पर लौटना असंभव है!

नरेन्द्रगुप्त का एक सहचर के साथ प्रवेश—विकटघोष और सुरमा का छिप जाना

नरेन्द्र०—वयस्य! बड़ी विषम समस्या है। राज्यवर्धन आज मेरे शिविर में आवेगा, बस यही अवसर है। मगध के गुप्तों का गौरव इन वर्धनों के चरणों में लोट रहा है—मुझसे यह नहीं

नरेन्द्र०—(देख कर)—क्यों जी, यह तो हम लोगों के काम का मनुष्य हो सकता है ?—(विकटघोष से)—तुम गायक नहीं हो, तुम्हारे मुख पर तो कला की एक भी रेखा नहीं है। स्पष्ट रक्त और हत्या का उल्लेख तुम्हारे ललाट पर है।

विकट०—जीवन बड़ा कठोर है, इसको आवश्यकता जो न करावे ! सच बात तो यह है कि मुझे अपने सुख के लिये सब कुछ करना अभीष्ट है।

नरेन्द्र०—वही तो पुरुषार्थ की बात है, तुममें पूर्ण मनुष्यता है (सुरमा की ओर देख कर) और तुम तो अवश्य गा सकती हो। चलो, मुझे तुम दोनों की आवश्यकता है।

विकट०—तो मेरा पुरस्कार ?

नरेन्द्र०—काम देखकर मिलेगा। आज शिविर में राज्यवर्धन का निमंत्रण है, उसी उत्सव में तुम लोगों को चलना होगा।

विकट०—(अलग सुरमा से)—राज्यवर्धन—सुरमा, तुम्हारे भाग्याकाश का धूमकेतु; और मेरे लिये तो सभी शत्रु हैं। बोलो, क्या कहती हो ?

सुरमा—जो करो, मैं प्रस्तुत हूँ। (अलग) हाय ! दूसरा पथ नहीं; यदि मैं कहती हूँ कि नहीं तो, उहूँ......फिर, यही सही; इस ओर से भी प्राण नहीं बचता।

विकट०—हम लोग चलेंगे।

नरेन्द्र०—तो चलो।

सब जाते हैं

मधुकर का प्रवेश

मधु०—प्राण बचे बाबा, अब इन राजाओं के फेर में न पड़ूँगा। ओह, उस विकटघोष का बुरा हो, कहाँ से टपक पड़ा! राज्यश्री भी कहीं इधर-उधर चली गई होगी। सुरमा का दुर्भाग्य! वह भी कुछ ही दिनों के लिये रानी बन गई थी! मुझे छुट्टी मिली इस प्रतिज्ञा पर कि मैं राज्यश्री को खोज निकालूँगा। पर जाऊँ किधर? वह बड़े-बड़े शिविर पड़े दिखाई दे रहे हैं, तो उधर ही चलूँ। हूँ, सोंधी बास भी तो आ रही है—चलूँ? नहीं, अब भागो; ब्राह्मण देवता! भीख माँग कर खा लेना ठीक है, पर किसी राजा के यहाँ कदापि न......

प्रस्थान

होकर हिंस्र पशुओं को क्यों लज्जित कर रहे हो ! इस श्मशान को कुरेद कर जली हड्डियों के टुकड़ों के अतिरिक्त मिलेगा क्या ?

दस्यु—परंतु मैं तुमको छोड़ूँ कैसे, क्या करूँ ? तुम मुझे कुछ धन दिलवा दो।

राज्य०—अर्थी ! तुम इतने मूर्ख हो ! मेरा राज्य छिन गया, सब लुट गया, भला, अब मैं कहाँ से दिलवा दूँ ?

दस्यु—तब मैं तुम्हें किसी के हाथ बेंच दूँगा। क्यों जी, यही ठीक रहा।

दूसरा०—और किया क्या जायगा।

राज्य०—तब अच्छा हो कि मेरे जीवन का अंत हो जाय ! भगवन्, तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो !

नेपथ्य से गान

अब भी चेत ले तू नीच !
दुःख-परितापित धरा को स्नेह-जल से सींच ॥
शीघ्र तृष्णा-पाश से नर ! कण्ठ को निज खींच।
स्नान कर करुणा-सरोवर, धुले तेरा कीच ॥

पहिला०—यह क्या ?

दूसरा०—हम लोग क्या कर रहे हैं ?

दिवाकरमित्र का प्रवेश

दिवा०—क्षणिक संसार ! इस महाशून्य में तेरा इन्द्रजाल

किसे नहीं भ्रांत करता। मैंने बहुत दिनों शास्त्रों का अध्ययन किया, पण्डितों को परास्त किया, तर्क से कितनों का मुँह बन्द कर दिया, परन्तु क्या मन को शांति मिली ? नहीं; तब ?—भगवान् की करुणा का अवलम्ब शेष है। करुणे ! इस दुःखपूर्ण धरणी को अपनी गोद में चिरकालिक शांति दे, विश्राम दे। (देखकर)—अरे, यह वनलक्ष्मी-सी कौन है ? विषाद की यह कालिमा क्यों ? और तुम लोग कौन हो, भाई ?

दस्यु—हम लोग दस्यु हैं !

दिवा०—और तुम देवी ?

राज्यश्री—जब विपत्ति हो, जब दुर्दशा की मलिन छाया पड़ रही हो, तब अपने उज्ज्वल कुल का नाम बताना, उसका अपमान करना है। देव, मैं एक विपन्न अनाथा हूँ ! जीवन का अन्त चाहती हूँ—मृत्यु चाहती हूँ !

दिवा०—यह पाप ! देवि, आत्महत्या या स्वेच्छा से मरने के लिये प्रस्तुत होना—भगवान् की अवज्ञा है। जिस प्रकार सुख दुःख उसके दान हैं—उन्हें मनुष्य झेलता है, उसी प्रकार प्राण भी उसी की धरोहर है। तुम अधीर न हो। क्यों भाई, तुम प्राण चाहते हो या धन ?

दस्यु०—हमें तो धन चाहिये।

दिवा०—तो भाई, मेरे शरीर पर जो कुछ हो सब ले लो।

राज्य०—किन्तु, मुझे तो अपनी शांति दीजिये। देव, मैं

इस कर्म से अत्यन्त व्यथित हो गया हूँ। अब अपने पद-रज की विभूति दीजिये।

दिवा०—(हँस कर)—अच्छा वैसा ही होगा; चलो सब लोग आश्रम पर रेवा-तट पर कुमार हर्षवर्द्धन और पुलकेशिन चालुक्य का युद्ध चल रहा है। अनेक लोग हताहत हो गये हैं। क्या तुम लोग उन आहतों की सेवा-शुश्रूषा कर सकोगे ?

राज्य०—क्या ? कुमार हर्षवर्द्धन !

दिवा०—हाँ देवी, चलो आश्रम समीप है।

प्रस्थान

२

रेवा-तट की युद्ध-भूमि—रण-वाद्य बजता है, एक ओर से हर्षवर्द्धन और दूसरी ओर से पुलकेशिन अपनी सेना के साथ आते हैं

हर्ष०—चालुक्य ! तुम वीर हो।

पुलके०—उत्तरापथेश्वर ! अभी मुझे अपनी वीरता की परीक्षा देनी है, क्योंकि विदेशी हूणों को विताड़ित करने वाले महावीर हर्षवर्द्धन के अस्त्र का आज ही सामना है।

हर्ष०—पर मैं अब युद्ध न करूँगा। (हाथ उठा कर) ठहरो, कोई अस्त्र न चलावे।

रण-वाद्य बंद हो जाते हैं

विकट०—अभी तक सब नहीं आये! वह चीनी यात्री अवश्य बड़ा धनी होगा, सुरमा! तब तक तुम कुछ गाओ न!

सुरमा—(गाती है)

जब प्रीति नहीं मन में कुछ भी
तब क्यों फिर बात बनाने लगे।
जब रीति प्रतीति उठी पिछली
फिर भी हंसने मुसक्याने लगे॥
सुख देना तभी सुख जो दिया था
दुख मोल तभी दुख को लिया था।
सर्वस्व ही तो हमने दिया था
तुम देने को तरसाने लगे॥

विकट०—सुरमा! यह उपालम्भ बड़ा कठोर है! सुरमा, मैं देवलोक से तुम्हारे लिए गिर पड़ा—केवल तुम्हें पाने के लिये, फिर भी यह!—(मदिरा पीने [illegible] करता है)

मैं उस शांति को धिक्कारता हूँ। धर्म को मैंने खोजा—जीर्ण पत्रों में, पण्डितों के कूटतर्क में, उसे विलखाते पाया; मुझे उसकी आवश्यकता नहीं !

सुएन०—तब क्या चाहिये ?

विकट०—या तो धन दे या रक्त। जो मुझे धन नहीं देता उसे मेरी देवी को रक्त देना पड़ता है !

सुएन०—रक्त से किसकी प्यास बुझती है, जानते हो ?—पिशाचों की, पशुओं की—तुम तो मनुष्य हो।

विकट०—ओह ! मेरी प्रतिमा—मेरी क्रूरता की देवी—नर-बलि चाहती है। तू बहुत स्वस्थ है, विदेशी ! मैंने राज-रक्त से पहले-पहल हाथ रँगा था, वह कितना लाल था ! उसका मनोरंजन कितना ललित था ! सुरमा ! स्मरण है वह राज्यवर्धन की हत्या ? बड़ी उत्साहवर्धक थी वह !

सुरमा—प्रिय ! वह भयानक दृश्य था—आह मैं गा रही थी, राज्यवर्धन के हाथ में मदिरा का पात्र था और तुम थे खड़े। उसकी मदिर दृष्टि मुझ पर पड़ी थी। अनुचर सब मद-विह्वल थे। सहसा तुम्हारी आँखें चमक उठीं, ज्योंही राजकुमार ने मेरी ओर हाथ बढ़ाया—दूसरा पात्र माँगा, तुमने कितनी भीषणता से प्रहार किया ! वह छुरी पत्थर का कलेजा भी छेद देती—राज्यवर्धन तो साधारण मनुष्य था।

विकट०—हाँ सुरमा ! वह मेरा हाथ ! अब तो मैं रक्त देख

कर अत्यन्त प्रसन्न होता हूँ ! यात्री ! तो आज ही तुम्हारी बलि होगी; प्रस्तुत रहो !

सुएन०—मुझे प्रार्थना कर लेने दो ।

सुरमा—देवी की जय !

सुरमा के साथ सब विकट नृत्य करने लगते हैं । भिक्षु प्रार्थना करता है । अकस्मात् आँधी के साथ अंधकार फैलता है । सब चिल्लाने लगते हैं— "दस्युपति ! उस भिक्षु को छोड़ दो" "उसी के कारण यह विपत्ति है", "छोड़ो उसे !"—प्रार्थना करते हुए सुएनच्वांग को सब धक्का देकर हटा देते हैं ।

५

दिवाकरमित्र का तपोवन

राज्य०—दुःखों को छोड़ कर और कोई न तुमसे मिला मेरा चिर सहचर ! परन्तु अब उसे भी छोड़ूँगी । आर्य, मुझे आज्ञा दीजिये । स्त्रियों का पवित्र कर्तव्य पालन करती हुई इस क्षण-भंगुर संसार से बिदाई लूँ—चिता की ज्वाला में, यह चिता की ज्वाला प्राण बचावे ।

दिवा०—देवी, मैं यह स्वीकार नहीं कर सकता । यह धर्म नहीं, आत्महत्या है । [illegible] जाने से ही नहीं मिट जाता । यह तो मैं नहीं कह सकता कि इस दुःख को बचा कर [illegible] ने नहीं [illegible] का मार्ग

बनाया; पर, इससे इतना भयभीत क्यों रहूँ ? उस करुणानिधान की स्नेहानुभूति इसी में तो झलकती है। प्राणी दुखों में भगवान के समीप होता है, देवी ! उसको.........।

राज्य०—परन्तु अब इस हृदय में बल नहीं है, महात्मन् ! आज्ञा दीजिये। मेरे इस अंतिम सुख में बाधा न दीजिये—(प्रार्थना करती है)—

जय जयति करुणा-सिन्धु।
जय दीनजन के बन्धु॥
जय अखिल लोक ललाम।
जय जय भुवन अभिराम॥

जय पतित पावन नाम।
जय प्रणत जन सुख-धाम॥
जय देव धर्म स्वरूप।
जय जय जगत्पति भूप॥

चिता प्रज्वलित होती है। राज्यश्री का उसमें प्रवेश करने का उपक्रम, सहसा—'ठहरो-ठहरो !' का शब्द। दस्यु—जो भिक्षु हो गया था—दौड़ता हुआ आता है

राज्य०—अब क्या ?

भिक्षु—सम्राट् हर्षवर्धन आ रहे हैं।

राज्य०—कौन ? भैय्या हर्ष ?

हर्ष का प्रवेश

राज्य०—आओ हर्ष ! इस अंतिम समय में तुम आ गये ! मेरा सारा विषाद चला गया।

हर्ष०—हे भगवान ! मैं यह क्या देखता हूँ। प्रतिहिंसा से प्रेरित होकर लाखों प्राणों का संहार करनेवाले हृदय, और भी वज्र हो जा ! बहिन, मैंने इतना रक्तपात किया, क्या इसीलिये कि राज्यश्री जल मरे और इतना दृप्त राजचक्र फिर मेरी असफलता पर एक बार हँस दे ? उत्तरापथ के समस्त नरपति आज इन चरणों में प्रणत हैं। बहिन ! यह मरण का समय नहीं है; चलो एक बार देखो कि तुम्हारे नीच शत्रुओं का क्या परिणाम हुआ। कान्यकुब्ज के सिंहासन पर वर्द्धन-वंश की एक बालिका ऊर्जस्वित शासन कर सकती है, यही तो मुझे दिखला देना था !

राज्य०—भाई हर्ष, यह रत्नजटित मुकुट तुम्हें भगवान ने इसलिये नहीं दिया कि लाखों सिर को तुम पैरों से ठुकराओ। मेरी शांति ढूँढ़ कर तुमने उसे इतनी बड़ी नर-हत्या में पाया ! हर्ष ! विचार करो, तुमने मेरे सदृश कितनी स्त्रियों को दुखिया बनाया ! तुम्हें क्या हो गया था ?

हर्ष०—(सिर नीचा करके)—मेरा भ्रम था ! किन्तु अब ?

राज्य०—अब मुझे आज्ञा दो कि मैं तुम्हारा प्रायश्चित करूँ और सती-धर्म का पालन भी।

हर्ष०—बहिन ! हम लोग दो ही तो बचे हैं। भाई राज्यवर्धन की हत्या हुई, अब तुम भी जाना चाहती हो, मेरे वर्धन-कुल की यह दशा ! तो फिर यही हो राज्यश्री !

राज्य०—क्या भाई राज्यवर्धन भी नहीं रहे !

हर्ष०—हाँ बहिन ! जब उन्होंने दुष्ट मालव को दण्ड देकर कान्यकुब्ज का उद्धार किया, उसी समय बन्धुनामधारी नरेन्द्र—नीच नरेन्द्र—ने षड्यंत्र से उनका प्राण-नाश कराया ! आज तक भण्डि उसका पीछा कर रहे हैं, वह भाग रहा है। तो फिर मैं ही क्या करूँगा ?—(दिवाकर मित्र से)—आर्य ! मुझे भी काषाय दीजिये।

राज्य०—(चिता से हट आती है)—भाई ! तुम भी......! नहीं, ऐसा नहीं होगा। मैं तुम्हारे लिये जीवित रहूँगी। मेरे अकेले भाई ! मुझे क्षमा करो; मैं कठोर हो गई थी।

हर्ष०—बहिन ! इस इन्द्रजाल की महत्ता में जीवन कितना लघु है ! सब गर्व, सारी वीरता, अनन्त विभव, अपार ऐश्वर्य, हृदय की एक चोट से—संसार की एक ठोकर से—निस्सार लगने लगा।

राज्य०—भाई ! दुःखमय मानव जीवन है। उसे अभ्यास पड़ जाता है इसीलिये सब के मन में तीव्र विराग नहीं होता। पर, तुम इतने दुर्बल होगे, यह मैं न जानती थी। मैं स्त्री हूँ—स्वभाव-दुर्बल नारी ! मेरा अनुकरण न करो, भाई ! चलो हम लोग दूसरों के दुख-सुख में हाथ बँटावें।

हर्ष०—चलो, पराक्रम से जो सम्पत्ति, शस्त्र-बल से जो ऐश्वर्य मैंने छीन लिया है, उसे पात्रों को दे दूँ। हम राजा होकर कंगाल बनने का अभ्यास करें।

राज्य०—चलो भाई! जहाँ तक बन पड़े, लोक-सेवा करके अन्त में हम दोनों साथ ही काषाय लेंगे।

सबका प्रस्थान

चतुर्थ अंक

१

कानन में—साधु के वेष में विकटघोष

सुरमा—यह आज नया रूप कैसा ?

विकट०—कान्यकुब्ज में स्वर्ण और रत्न की वर्षा हो रही है सुरमा ! राज्यश्री अपने समस्त कोष का अद्भुत दान कर रही है। वहाँ भी लूटना चाहिये न !

सुरमा—अब समझो। मुझे तो तुम्हारा यह रूप देख कर बड़ा संदेह हुआ था।

विकट०—यही न कि मैं फिर साधु तो नहीं हो गया ? (हँसता है)

उसके साथी दस्यु, साधु के रूप में आते हैं

एक दस्यु—परन्तु अब हम लोग कहाँ चलेंगे; कान्यकुब्ज का दान तो अन्तप्राय है। अब सुना गया है कि यहीं प्रयाग में ही फिर से दान होगा। और, वह चीनी भिक्षु भी साथ ही आ रहा है !

विकट०—चीनी भिक्षु !—न जाने क्यों उसे इतना आदर मिल रहा है !

दूसरा०—और साथ ही साथ धन भी। सुना है कि पञ्चनद

के उदितराज, कामरूप के कुमारराज, वलभी के ध्रुवभट भी यहाँ आ रहे हैं और सम्राट् हर्षवर्धन सर्वस्व दान करेंगे।

सुरमा—तो मैं भी चलूँगी।

विकट०—इसी रूप में ?

सुरमा नेपथ्य में जाती है और अवधूतनी बनकर आती है

सुरमा—

"अलख अरूप"

तेरा नाम, सब सुखधाम,
जीवन ज्योति स्वरूप।
मंगल गान, एक समान,
सब छाया को धूप॥

"अलख अरूप"

सब गाते हुए जाते हैं

बौद्ध साधुओं का प्रवेश

धर्मसिद्धि—इतना अपमान! यह चीनी भिक्षु भयानक पण्डित निकला!

शीलसिद्धि—महायान! तान्त्रिक उपासनाओं से भरा हुआ एक इन्द्रजाल! उसकी उन्नति! भगवान तथागत! तुम्हारे सत्य का इतना दुरुपयोग!

धर्म०—अज्ञान प्रायः प्रबल हो जाता है और असत्य अधिक

आकर्षक होता है। किंतु यह चीनी यात्री और हर्ष दोनों ही इसके प्रधान कारण हैं।

शील०—फिर उपाय ?

धर्म०—उपाय होगा। देखा नहीं—यह दस्युओं का दल साधु बन कर जा रहा है। दान का अतिरूप है यह; जब ऐसे लोग भी उस पुण्य-भाग के अधिकारी होंगे, तब वह स्वयं विकृत होगा। चलो महास्थविर से कहना है।

शील०—वे तो अत्यन्त उत्तेजित हैं।

धर्म०—चलो भी।

२

प्रयाग में गंगा-तट

हर्ष—सपरिवार

राज्य०—भाई, भण्डि ने क्या कहा ?

हर्ष०—गुप्तकुल का दुर्नाम नरेन्द्र प्राणों के लिये अत्यन्त भयभीत है। वह संधि का प्रार्थी है और वह कहता है कि उस हत्या में वेश्या का सम्पर्क था, उसका नहीं।

राज्य०—फिर भी वह क्षम्य है। अपना सम्बन्धी है। भाई, जाने दो ! आज हम लोग दान देने चल रहे हैं, क्षमा करो भाई !

हर्ष०—तब तुम्हारी इच्छा। मेरा हृदय नहीं क्षमा करेगा, मैं अशक्त हूँ।

एक दौवारिक का प्रवेश

दौवारिक—जय हो देव!

हर्ष०—क्या है?

दौवा०—महाश्रमण पर आज एक भयानक आक्रमण हुआ था; किन्तु वे बच गये!

हर्ष०—महाश्रमण पर! उपद्रवी पकड़े गये?

दौवा०—नहीं देव! वे निकल भागे। ऐसा विदित होता है कि महाश्रमण के प्राण लेने का एक षड्यन्त्र था, जिसके भीतर धार्मिक द्वेष काम कर रहा था।

हर्ष०—धर्म में भी यह उपद्रव! राज्यश्री, देखो बहिन! सब स्थानों पर क्षमा की एक सीमा होती है—(दौवारिक से)—जाओ डौंड़ी पिटवा दो कि यदि महाश्रमण का एक रोम भी छू गया तो समस्त विरोधियों को जीवित जलना पड़ेगा।

राज्य०—चलो भाई! हम लोग यह महासमारोह दूर से देखें।

सबका प्रस्थान। दूसरी ओर से दो भिक्षुओं का प्रवेश

पहला—यही होना चाहिये। अब धर्म नहीं बचेगा।

दूसरा—अब दूसरा उपाय नहीं।

पहला—तो फिर वही ठीक किया जाय।

दूसरा—वह तो प्रस्तुत है।

पहला—तो फिर चलो।

दोनों का प्रस्थान

३

प्रयाग का दूसरा भाग, सुरमा का प्रवेश

सुरमा—जैसे अंतिम अभिनय हो! आज यह क्या होगा? इतना बड़ा उत्पात ऐसे ही चला करेगा? असम्भव है। तो? मैंने रोक नहीं लिया; नहीं मानता—हत्या करते-करते कितना निर्दय-हृदय हो गया है! और मैं कहाँ चल रही हूँ, वही जीवन; किन्तु वह धीर धारा न रही! ठठा कर हँसना, नाचते हुए—स्थिर जीवन में एक आन्दोलन उत्पन्न कर देना, नहीं, यह कृत्रिम है, यह नहीं चलेगा! राज्यश्री को देखती हूँ, तब मुझे अपना स्थान सूचित होता है—पता चलता है कि मैं कहाँ हूँ! चलूँ, रोक सकूँ!

सुरमा का प्रस्थान। दो नागरिकों का व्यग्र भाव से प्रवेश

पहला—इतना बड़ा उत्पात!

दूसरा—होम करते हाथ जले!

पहला—ना भाई! कितने ही ढोंगी घुस आते हैं—अधिक पुण्य भी करने में कितना पाप हो सकता है!

संयत करो अपने मन को, श्लाघा और आकांक्षा का पथ बहुत पहले छोड़ चुके हो" परंतु यह......हे भगवान् !

विकट०—मेरे वध की आज्ञा दीजिये। ओह! प्राण जल रहे हैं ! रोम-रोम से चिनगारियाँ निकल रही हैं........दण्ड ! दण्ड ! हे भगवान् !

राज्य०—आज हम लोगों ने सर्वस्व दान किया है, भाई ! आज महाव्रत का उद्यापन है। क्या एक यही दान रह जाय—इसे प्राणदान दो भाई !

"देवी राज्यश्री की जय !"

सुरमा—(दौड़ती हुई आती है)—मुझे भी महारानी ! स्त्री की मर्यादा ! करुणा की देवी ! राज्यश्री ! मुझे भी दण्ड !

राज्य०—अरे तू मालिन !

सुरमा—हाँ भगवति ! मेरा प्रायश्चित्त ?

राज्य०—महाश्रमण ! आज सबका प्रायश्चित्त चित्त-शुद्धि-पूर्वक काषाय लेने में है। आप इन दोनों को भी काषाय दीजिये।

महाश्रमण आगे बढ़कर दो काषाय देता है। विकटघोष का बंधन खोला जाता है

सुएन०—"दस्युराज ! मैं रुपये लेकर नहीं आया हूँ। मेरे पास थोड़ा-सा धर्म है और कुछ शांति—तुम चाहते हो लेना ?"—मैंने यही एक दिन तुमसे कहा था, वही आज भी कहता हूँ।

विकटघोष और सुरमा दोनों महाश्रमण के पैर पर गिरते हैं। थालों में मणि-आभूषण और वस्त्र लिये कुमारराजा, उदितराजा इत्यादि आते हैं

हर्ष०—यह क्या ?

कुमार०—उसी धर्म की रक्षा के लिये बोधिसत्त्व का व्रत ग्रहण कीजिये। आप भिक्षु होकर लोक का कल्याण नहीं कर सकते—राज-दण्ड से ही आपका कर्त्तव्य पूर्ण होगा। लोक-सेवा छोड़ कर आप व्रत-भङ्ग न कीजिये।

सुएन०—हाँ महाराज ! इस धर्मराज्य का शासन करने के लिये आपको राजमुकुट और दण्ड ग्रहण करना ही पड़ेगा।

राज्य०—भाई ! यहाँ त्याग का प्रश्न नहीं है। यह लोक-सेवा है। ऐसा राज्य करने का आदर्श आर्यावर्त्त की ही उत्तमा श्री है।

हर्ष नत होकर मुकुट और राजदण्ड ग्रहण करता है।

"जय महाराजाधिराज हर्षवर्द्धन की जय !"

"जय देवी राज्यश्री की जय !"

आलोक—पुष्पवर्षा

समवेत स्वर से

करुणा - कादम्बिनि बरसे।
दुख से जली हुई यह धरणी प्रमुदित हो सरसे।
प्रेम - प्रचार रहे जगतीतल दया - दान दरसे।
मिटे कलह शुभ शांति प्रकट हो अचर और चर से।

यवनिका

स्वर-लिपि के संकेत-चिन्हों का व्योरा

१—जिन स्वरों के नीचे विन्दु हो, वे मंद्र सप्तक के; जिनमें कोई विन्दु न हो, वे मध्य सप्तक के; तथा जिनके ऊपर विन्दु हो, वे तार सप्तक के हैं। जैसे—स़, स, सं।

२—जिन स्वरों के नीचे लकीर हो, वे कोमल हैं। जैसे—रे̱, ग̱, ध̱, नि̱। जिनमें कोई चिन्ह न हो, वे शुद्ध हैं। जैसे—रे, ग, ध, नि। तीव्र मध्यम के ऊपर खड़ी पाई रहती है—म॑।

३—आलंकारिक स्वर (गमक) प्रधान स्वर के ऊपर दिया है; यथा—

ध म
प म प

४—जिस स्वर के आगे पड़ी पाई हो '—' उसे उतनी मात्रा तक दीर्घ करना, जितनी पाइयाँ हों। जैसे—स –, रे – –, ग– – –।

५—जिस अक्षर के आगे जितने अवग्रह ऽ हों, उसे उतने मात्रा-काल तक दीर्घ करना। जैसे—रा ऽ म, सखी ऽऽ; आ ऽऽऽ ज।

६—'‿' इस चिन्ह में जितने स्वर या बोल रहें, वे एक मात्रा-काल में गाए या बजाए जायँगे। जैसे—स‿रे, ग‿म।

७—जिस स्वर के ऊपर से किसी दूसरे स्वर तक चन्द्राकार लकीर जाय, वहाँ से वहाँ तक मींड़ समझना। जैसे—

स– –म, रे– –प इत्यादि।

८—सम का चिन्ह X, ताल के लिए अंक और खाली का द्योतक ० है। इनका विभाजन खड़ी लम्बी रेखाओं से दिखाया गया है।

९—'❀' यह विश्रान्ति का चिन्ह है। ऐसे जितने चिन्ह हों उतने मात्रा-काल तक विश्रान्ति जानना।

अन्तरा

		०	३
		प — प प	ध ध नि —
		दू ऽ र ह	ट र हा ऽ
×	२		
धनि सं सं सं	संनि सं सं सं	नि नि — नि	— नि ध नि
सऽ. र व र	शीऽ ऽ त ल,	हु आ ऽ चा	ऽ ह ता ऽ
धनि सं सं नि	ध नि प प	नि नि नि—	सं—निधप—
अऽ व तो ऽ	ओ ऽ झ ल,	झु क जा ऽ	ती ऽ हैंऽऽ ऽ
म			
प ध ग —	म ध पध नि	प ध प म	गरे ग स रे
प ल कें ऽ	दु ऽ र्बल ऽ	ध्व नि सु न	नऽ प ड़ी ऽ
ग ग ग म	गरे ग स —		
न व घ न	कीऽ ऽ रे ऽ		

अन्तरा

			३
			मं मं ग ग
			म च ल स
×	२	०	
मं मं ध ध	सं — ग —	रें — स स	निस गमं धनि
च ल उ ठ	ता ऽ है ऽ	चं ऽ च ल,	भ र लाऽ ऽऽ
मंध निसं रेंस	नि सं नि ध	नि ध मं ग	गं मं गं रें
ताऽ ऽऽ है ऽ	आँ ऽ खों ऽ	में ऽ ज ल,	वि छ ल न
सं सं सं सं	धनि संरें स—	नि ध नि ध	ग मं ध नि
क र च ल	ताऽ ऽऽ है ऽ	उ स प र	लि ये ऽ व्य
सं रें सं —	धनिसंरें गंरेंसंनि	ध मं ग	
था ऽ का ऽ	भाऽ ऽऽ ऽऽ ऽऽ	ऽ ऽ र	

अन्तरा

			२		३		×			२		३		
			म	ग	रे	स	रे	—	रे	रे	ग	म		
			अ	ब	भी	ऽ,	शी	ऽ	घ्र	तृ	ऽ	ष्णा		
×														
ग	रे	ग	स	रे	स	स	रे	—	रे	म	—	प		
पा	ऽ	श	से	ऽ	न	र	कं	ऽ	ठ	को	ऽ	नि		
नि	ध	प	—	—	—	—	म	प	प	नि	नि	सं		
खीं	ऽ	च	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ला	ऽ	न	क	र	क		
ध														
प	—	प	नि	सं	रें	रें	नि	सं	—	निसं	रेंसं	निध		
णा	ऽ	स	रो	ऽ	व	र	धु	ले	ऽ	तेऽऽ	ऽऽ	राऽ		
नि	ध	प	म	ग	रे	स	इत्यादि							
खीं	ऽ	च,	अ	ब	भी	ऽ								

भीम पलासी—कहरवा

स्थायी

		×	२
	स स	स — स स	रे नि़ नि़ नि़
	ज ब	श्री ऽ त न	हीं ऽ म न
×	२		
स — ग॒ म	प — प प	प—ग॒ ग॒ ग॒	ग॒ म ग॒ प
में ऽ कु छ	भी ऽ त ब	क्यों ऽऽ फि र	बा ऽ त ब
ग म ग॒ रे	स — स स	स — स स	रे नि़ नि़ नि़
ना ऽ ने ल	गे ऽ, स ब	री ऽ त प्र	ती ऽ ति उ
स — ग॒ म	प — प प	प—ग॒ ग॒ ग॒	ग॒ म ग॒ प
ठी ऽ पि छ	ली ऽ फि र	भी ऽऽ हँ स	ने ऽ मु स
ग॒ म ग॒ रे	स —		
का ऽ ने ल	गे ऽ		

अन्तरा

		X	२
	नि॒ नि॒	नि॒ — नि॒ नि॒	नि॒ — नि॒ नि॒
	सु ख	दे ऽ ख स	भी ऽ सु ख
०	३		
नि॒ध पम प नि॒	धप — प प	प —ग॒ ग॒ ग॒	ग॒ म ग॒मप प
खोऽ ऽऽ दि या	थऽ ऽ, दु ख	मो ऽऽ ल इ	सी ऽ सुऽऽ ख
ग॒ म ग॒ रे	स — स —	स — स स	रे नि॒ नि॒ नि॒
को ऽ लि या	था ऽ, स ऽ	वै ऽ ख ही	तो ऽ ह म
स — ग॒ म	प — प प	प — ग॒ ग॒	ग॒ म ग॒ प
ने ऽ दि या	था ऽ, तु म	दे ऽ ख ने	को ऽ त र
गम पनि॒ पम गरे	स —		
साऽ ऽऽ नेऽ लऽ	गे ऽ		

(पृष्ठ ६८)

भूप कल्याण—कहरवा (इंगलिश ट्यून की चाल)

स्थायी

			२ ध़ स प़ ध़ अ ल ख अ
× स — — स रू ऽ ऽ प,	२ स — ग रे ते ऽ रा ऽ	× ग — — ग ना ऽ ऽ म,	रे ग प ध स व सु ख
प ग — — ग धा ऽ ऽ म,	० ० ० ० ० ० ० ०	प ध सं रें जी ऽ व न	गं रें सं ध ज्यो ऽ ति स्व
प ग रे स रू ऽ ऽ प			

अन्तरा

×　　　　　　　　२
नि नि | नि — नि नि | नि — नि नि
मु ख | दे ऽ ख स | भी ऽ सु ख

×　　　　　　　　२
निध पम प नि | धप — प प | प—ग ग ग | ग म गमप प
खोऽ ऽऽ दि या | थऽ ऽ, दु ख | मोऽऽ ल इ | सी ऽ सुऽऽ ख

ग म ग रे | स — स — | स — स स | रें नि नि नि
को ऽ लि या | था ऽ, स ऽ | वैं ऽ ख ही | तो ऽ ह म

स — ग म | प — प प | प — ग ग | ग म ग प
ने ऽ दि या | था ऽ, तु म | दे ऽ ख ने | को ऽ त र

गम पनि पम गरे | स —
साऽ ऽऽ नेऽ लऽ | गे ऽ

भूप कल्याण—कहरवा (इंगलिश ट्यून की चाल)

स्थायी

			२
			ध़ स प़ ध़
			अ ल ख अ
×	२	×	
स — — स	स — ग रे	ग — — ग	रे ग प ध
रू ऽ ऽ प,	ते ऽ रा ऽ	ना ऽ ऽ म,	रा व सु ख
प			
ग — — ग	० ० ० ०	प ध सं रें	गं रें सं ध
धा ऽ ऽ म,	० ० ० ०	जी ऽ व न	ज्यो ऽ ति स्व
प ग रे स			
रू ऽ ऽ प			

अन्तरा

			२
			ग — प ध
			सं ऽ ग ल
X	२	X	
सं — — सं	सं रें गं रें	सं ध प ग	० ० ० ०
गा ऽ ऽ न,	ए ऽ क स	मा ऽ ऽ न	० ० ० ०
ग ग प —	सं — ध —	गप धसं धप गरे	
ऋ व छा ऽ	या ऽ की ऽ	धूऽ ऽऽ ऽऽ ऽप	

(पृष्ठ ७५)

देवगिरी विलावल—कहरवा (समवेत गान)

स्थायी

												२			
												स	रे	ग	म
												क	रु	णा	ऽ
×				२				×							
रे	ग	स	रे	नि़	स	ध़	नि़	स	—	—	—	०	०	०	०
का	ऽ	द	ऽ	स्वि	नि	ब	र	से	ऽ	ऽ	ऽ,	०	०	०	०
प़	प़	ध़	—	नि़	नि़	—	नि़	स	—	स	रे	नि़	नि़	स	—
दु	ख	से	ऽ	ज	ली	ऽ	हु	ई	ऽ	य	ह	ध	र	णी	ऽ
स	रे	ग	म	प	ध	प	म	ग	रे	स	नि़				
अ	मु	दि	त	हो	ऽ	स	र	से	ऽ						

अन्तरा

X				२				X				२		
सं	—	सं	सं	सं	—	सं	रें	नि	—	नि	सं	नि	ध	प
प्रे	ऽ	म	प्र	चा	ऽ	र	र	हे	ऽ	ज	ग	ती	ऽ	त

								ध						
प	प	—	ध	—	नि	सं	नि	प	—	—	—	—	—	—
द	या	ऽ	दा	ऽ	न	द	र	से	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ

प	नि॒	—	नि॒	नि॒	नि॒	ध	प	प	ध	प	म	ग	रे	स
मि	टे	ऽ	क	ल	ह	शु	भ	शां	ऽ	ति	प्र	क	ट	हो

म	रे	ग	स	प	ध	प	म	ग	रे	स	नि
अ	च	र	ओं	ऽ	र	च	र	से	ऽ	ऽ	ऽ